इकाई 7 रस की परिभाषा, स्वरूप और रस निष्पत्ति

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 'रस' शब्द का अर्थ तथा रस-चिंतन की परंपरा
7.3 रस की परिभाषा
7.4 रस का स्वरूप
7.5 करुण रस का आस्वाद
7.6 रस की निष्पत्ति
  7.6.1 भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद या आरोपवाद
  7.6.2 शंकुक का अनुमितिवाद
  7.6.3 भट्टनायक का भोगवाद
  7.6.4 अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद
  7.6.5 अभिनवगुप्त के मत का महत्व
7.7 रस सिद्धांत की शक्ति और सीमाएँ
7.8 शब्दावली
7.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

7.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- बता सकेंगे कि रस शब्द से क्या तात्पर्य है तथा इसके विषय में चिंतन की क्या परंपरा रही है,
- रस की परिभाषा दे सकेंगे,
- रस का स्वरूप बता सकेंगे तथा स्पष्ट कर सकेंगे कि करूण रस का आस्वाद किस तरह होता है,
- रस निष्पत्ति की प्रक्रिया संबंधी विभिन्न मतों का परिचय दे सकेंगे,
- रस सिद्धांत की शक्ति और सीमाओं की चर्चा कर सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

इस खंड की पिछली इकाइयों में आपने भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न संप्रदायों का अध्ययन किया और यह जानकारी प्राप्त की कि साहित्य के मूल्यांकन के लिए संस्कृत के आचार्यों ने विभिन्न पहलुओं से विचार किया है। एक वर्ग रस को अधिक महत्व देता है तो दूसरा अलंकार को, तीसरा वक्रोक्ति को तो चौथा ध्वनि को। इन विभिन्न दृष्टियों अथवा साहित्य चिंतन के संप्रदायों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रस संप्रदाय का रहा है। अतः रस संबंधी विवेचन को विस्तार से समझना आवश्यक है। प्रस्तुत इकाई में आप रस संबंधी चिंतन के विविध पक्षों का विस्तृत परिचय प्राप्त करेंगे।

भारतीय काव्यशास्त्र में रस चिंतन, सौंदर्य चिंतन का मूल आधार है। सौंदर्य के आस्वादन में निहित आनंद को प्रधानता देते हुए रस चिंतन का विकास हुआ। सौंदर्य में निहित अद्भुत तत्व की व्याख्या के लिए अलंकार संप्रदाय, वक्रोक्ति संप्रदाय आदि सामने आए। किंतु कालक्रम की दृष्टि से नहीं व्यापक प्रभाव की दृष्टि से भी रस सिद्धांत भारतीय काव्यशास्त्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी रहा है।

7.2 'रस' शब्द का अर्थ तथा रस-चिंतन की परंपरा

'रस' भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम शब्दों में से एक है। सामान्यतः रस शब्द का चार अर्थों में प्रयोग होता है - (1) पदार्थ का रस, जैसे अम्ल तिक्त आदि, (2) आयुर्वेद का रस, (3) साहित्य का रस; और (4) मोक्ष या भक्ति का रस।

प्राकृतिक रस में रस शब्द का अर्थ है किसी वनस्पति को निचोड़ कर निकाला हुआ द्रव, अर्थात् पदार्थ सार जिसका आस्वादन किया जा सकता है। आयुर्वेद में रस का अर्थ है पारद। यहाँ पदार्थ के सार का अर्थ तो निहित है ही किंतु महत्व उसके आस्वाद का नहीं बल्कि गुण का माना जाता है। तीसरा प्रयोग

है साहित्य का रस। यहाँ रस क अर्थ है (1) काव्य का आस्वाद, (2) काव्य का सौंदर्य, (3) काव्य का आनंद। मोक्ष या भक्ति का रस आत्मा के आनंद या ब्रह्मानंद का वाचक है। इस प्रकार रस के सभी अर्थों में भोग या आस्वाद का भाव अंतर्निहित है।

ऊपर चर्चा की जा चुकी है कि रस का पहला अर्थ है पदार्थों का सारभूत द्रव। वैदिक युग में वनस्पतियों के रस का प्रयोग मिलता है वहाँ यजमान (यज्ञ करने वाला व्यक्ति) अपने देवता को द्रव्य (हवन में प्रस्तुत की जाने वाली वस्तु) के रूप में रस प्रस्तुत करता है। इसके अलावा रस शब्द का प्रयोग दूध और जल के अर्थ में भी मिलता है। किंतु इस युग में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है सोमरस के रूप में रस का प्रयोग। सोमरस के संदर्भ में रस के प्रयोग से ही आस्वाद रूप में रस का अर्थ विकास हुआ।

उपनिषद में रस का प्रयोग आस्वाद और आह्लाद के संदर्भों में मिलता है। तैत्तिरीय उपनिषद में आता है - औषधि से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न हुआ। यह शरीर अन्न के रस से बना है। यहाँ रस का प्रयोग केवल द्रव्य नहीं है देह धातु और शक्ति का वाचक है। यह अर्थ आयुर्वेद के रस के पर्याप्त निकट है। यहीं पर रस को दर्शन में प्रवेश मिला और कहा गया वह (ब्रह्म) सर्व गंध और सर्व रस है। धीरे-धीरे रस की भौतिक और आध्यात्मिक सीमाएँ मिल गईं और यह प्रसिद्ध हो गया -'रसो वै सः' (तैत्तिरीय उपनिषद) अर्थात् वह (ब्रह्म) रस रूप है। उसे प्राप्त कर मनुष्य आनंदमय हो जाता है।

रस का मूल अर्थ था अन्न का रस या वनस्पतियों का रस, सोमरस। सोमरस में आस्वाद के साथ एक प्रकार का आनंद और तन्मयता दानों की अर्थ ध्वनि है। इस प्रकार रस का अर्थ अन्न रस से ब्रह्म रस तक की यात्रा पूरी करता है। काव्य रस के शास्त्रीय अर्थ में रस का प्रयोग वैदिक वाङ्मय में नहीं मिलता है। कभी-कभार वाणी के लिए मधु के समान दीखने वाली विशेषण का प्रयोग मिलता है।

इस प्रकार वैदिक युग में ही रस शब्द का प्रयोग वाक्, वाणी या शब्दार्थ के लिए होने लगा था। रामायण, महाभारत काल में आकर नवरस का उल्लेख मिलने लगता है। बाल्मीकि रामायण के बालकांड के चतुर्थ सर्ग में नवरस का स्पष्ट उल्लेख है किंतु डॉ. नगेन्द्र का मत है कि बालकांड का यह अंश जिसमें रस की चर्चा है निश्चय ही प्रक्षिप्त है। 'रस सिद्धांत' में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि रामायण में रस का प्रयोग जीवन-रस या पेय के साधारण अर्थ में ही मिलता है। महाभारत में भी रस जल, पेय, गंध अथवा सुरा का ही पर्याय है। एक-दो प्रयोग नए हैं जैसे रस का काम और स्नेह के अर्थ में प्रयोग।

महाभारत काल के बाद का समय दर्शन सूत्रों की रचना तथा बौद्ध एवं जैन दर्शनों के आविर्भाव का युग है लेकिन इसी युग में वैयाकरण पाणिनि का 'अष्टाध्यायी' कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' और वात्स्यायन का 'कामसूत्र' लिखा गया। वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' में रस शब्द का प्रयोग रति अथवा काम के अर्थ में किया है। निश्चय ही वास्त्यायन के युग में रस शब्द के शास्त्रीय अर्थ का आविर्भाव हुआ। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' की रचना ई.पू. चौथी शती के लगभग हुई। 'कामसूत्र' इस युग के पूर्वार्द्ध की रचना है और 'भरतसूत्र' (नाट्यशास्त्र) उत्तरार्द्ध की। भरत के 'नाट्यशास्त्र' में रस की इतने विस्तार और गहराई से चर्चा है कि रस की शास्त्रीय परंपरा को भरत से लगभग दो शताब्दी पहले तक ले जाना आवश्यक है। भरत ने अपने पूर्ववर्ती रस चिंतकों का उल्लेख किया है किंतु उनका कोई ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं है।

रस सिद्धांत का प्रतिपादक प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' ही है। 'नाट्यशास्त्र' में नाटक के संदर्भ में 'रस' का विस्तार से विवेचन मिलता है। 'नाट्यशास्त्र' के बारे में अधिकांश विद्वानों का मत है कि यह छठी शताब्दी ईसा पूर्व से पहले की रचना नहीं है। भरत ने नाटक को ही साहित्य का सर्वश्रेष्ठ रूप माना है और कहा है कि नाटक का प्राण है रस। कोई भी नाटक का अंग रस के बिना शक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता या रस के बिना कोई अन्य अर्थ प्रवृत्त नहीं हो सकता। नाट्य सिद्धि के लिए भरत ने सूत्रधार तथा प्रेक्षक दोनों की दृष्टि से भाव तथा रस को मुख्य माना है। नाटक के निर्माण करने वाले तत्वों में भरत रस-भावादि को प्रधानता देते हैं। वे कहते हैं नाटक इस समस्त त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तन करता है। एक जगह उनका कथन है - 'मैंने जिस नाट्य का निर्माण किया है वह नाना प्रकार के भावों से समन्वित है। इसमें विविध प्रकार की अवस्थाएँ हैं और यह लोक चरित का अनुकरण करता है।' नाट्य के चार प्रमुख अंग हैं - (1) वस्तु तत्व (2) अभिनय (3) संगीत; और (4) रस। पहले तीनों अंगों का नियंता रस है।

भरत के उपरांत रस-सिद्धांत अधिक लोकप्रिय नहीं रहा। आगे आने वाले आचार्यों ने अलंकार और रीति को काव्य की आत्मा घोषित किया। रस-सिद्धांत के पहले विरोधी आचार्य भामह थे। उन्होंने रस का अलंकार में अंतर्भाव कर लिया। दंडी ने भी रस को अलंकारों के अंतर्गत स्थान दिया। रीतिवादी आचार्य वामन ने रस को कांतिगुण का मूल तत्व मानते हुए उसकी प्रतिष्ठा को थोड़ा बढ़ाया। भामह से लेकर रूद्रट तक अलंकार और रीति की प्रधानता रही और रस का स्थान गौण रहा।

लेकिन उस समय के दोनों प्रसिद्ध कवियों - कालिदास और भवभूति ने अपने समकालीन आलोचकों का विरोध करते हुए रस की प्रतिष्ठा की। कालिदास ने अपनो नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में 'त्रैगुण्योद्भवमत्रलोकचरितम् नाना रसम् दृश्यते' कहकर रस की प्रतिष्ठा की। भवभूति ने करूण रस को ही एक मात्र रस घोषित किया। पीछे से आनंदवर्धन ने ध्वनि सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए रस सिद्धांत को असीम विस्तार प्रदान कर दिया। इस प्रकार ध्वनि को रस का विरोधी न मानकर उसका व्यापक रूप मानना ही उचित है। 'ध्वन्यालोक' (आनंदवर्धन) के उपरांत अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन की रचना की और रस संबंधी अनेक भ्रांतियों का निराकरण करते हुए रस की प्रतिष्ठा की। परवर्ती आचार्यों में भोजराज के 'शृंगार प्रकाश' मम्मट के 'काव्य प्रकाश' और विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' का नाम रस-सिद्धांत की परंपरा में विशेष उल्लेखनीय है। विश्वनाथ ने सत्वोद्रेक को रस का हेतु बताया और रस को अखंड, लोकोत्तर, चमत्कारप्राण कहा।

रस चिंतन की यही परंपरा हिंदी साहित्य को प्राप्त हुई। हिंदी में रस चिंतन को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'रस मीमांसा' और डॉ. नगेन्द्र ने 'रस-सिद्धांत' में विशेष रूप से व्याख्यायित-विश्लेषित किया। छायावाद युग तक रस सिद्धांत की चर्चा निर्भ्रांत होती रही। छायावादोत्तर युग में उसका विरोध हुआ विशेषकर नयी कविता के युग में कहा गया कि रस का संबंध चित्त की विश्रांति और अद्वंद्व से है जबकि नयी कविता का आधार है द्वंद्व, तनाव, संघर्ष तथा विक्षोभ। इस प्रकार नयी कविता युग में रस को काव्य के प्रतिमान के रूप अस्वीकार कर दिया गया।

7.3 रस की परिभाषा

रस की व्याख्या करने वाला भरत मुनि का यह प्रसिद्ध सूत्र है - **'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्ति'**। अर्थात् विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी (संचारी भाव) के साथ जब स्थायी भाव का संयोग होता है तब रस की निष्पत्ति होती है। स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव - ये चारों रस के अंग कहलाते हैं (इनकी विस्तृत चर्चा के लिए देखिए इकाई-5)। भरत ने अपने रस संबंधी मंतव्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है -

> **जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुड़ादि द्रव्यों, व्यंजनों और ओषधियों से 'षाडवादि' रस बनते हैं उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी रस रूप को प्राप्त होते हैं।**

यहाँ यह सहज प्रश्न उठता है कि रस कौन सा पदार्थ है अथवा रस को रस क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर है जो आस्वाद्य हो वह रस है। जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों से पके हुए अन्न का उपभोग करते हुए 'सुमनस व्यक्ति' (स्वस्थ चित्त वाले व्यक्ति) रसों का आस्वादन करते हैं उसी प्रकार प्रेक्षक (नाटक के दर्शक) विविध भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यंजित - आंगिक, वाचिक, सात्विक, आहार्य अभिनयों से संयुक्त - स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि प्राप्त करते हैं। इस प्रकार भरत रस की लौकिक संदर्भों में व्याख्या करते हैं। उनके कथन का सारांश है -

(1) रस अनुभूति का विषय है

(2) विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव से संयुक्त एवं विविध अभिनयों द्वारा व्यंजित स्थायी भाव ही रस या नाट्य रस में परिणत हो जाता है।

(3) स्थायी भाव रस नहीं है किंतु रस का आधार है क्योंकि नाट्य सामग्री से संयुक्त होकर वही रस बन जाता है। उदाहरण के लिए रति स्थायी भाव अपने मूल रूप में शृंगार रस नहीं है परंतु नायक नायिका के सुख-दुख आदि के प्रसंग में विविध अभिनयों के द्वारा जब वह रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है तो शृंगार रस के रूप में परिणत हो जाता है।

(4) यहाँ स्थायी भाव से अभिप्राय कवि या सहृदय के स्थायी भाव का न होकर नायक के स्थायी भाव का है क्योंकि नायक ही लोक का प्रतिनिधि है।

(5) रस कला का आस्वाद नहीं है कलात्मक स्थिति है।

(6) सहृदय इसका आस्वादन करता है और उसका आस्वादन हर्षादि रूप ही होता है। हर्षादि के दो अर्थ किए जाते हैं - एक तो यह कि रसास्वाद केवल आनंदमय ही नहीं होता। विभिन्न स्थायी भावों के अनुसार विभिन्न प्रकार का होता है। दूसरा यह कि भरत ने कटु अनुभूतियों की व्यंजना की ओर संकेत नहीं किया रामचंद्र गुणचंद्र ने रस को सुख-दुख रूप माना है।

इस प्रकार भरत के अनुसार नाना भावों से संपन्न स्थायी भाव ही रस है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि नाट्य सौंदर्य और काव्य सौंदर्य के माध्यम से स्थायी भाव की उपस्थिति ही रस है। भरत सूत्र के अन्य व्याख्याकार आचार्यों ने, प्रमुख रूप से अभिनवगुप्त ने शैवाद्वैत सिद्धांत के आधार पर कहा कि रस का अर्थ है आनंद और यह आनंद विषयगत न होकर आत्मगत ही होता है। विषय तो आत्मास्वाद का माध्यम मात्र है जिसके द्वारा प्रेक्षक या सामाजिक या सहृदय 'संविद विश्रांति' को प्राप्त होता है। इस दृष्टि में रस के आनंद से इतर रूप की कल्पना नहीं है। संस्कृत काव्यशास्त्र में रस का सामान्य अर्थ है काव्य-सौंदर्य। इस प्रकार रस के तीन अर्थ हुए - (1) रस भाव की कलात्मक अभिव्यंजना है (2) रस भावमूलक काव्य सौदर्य की अनुभूति है (3) पूरा काव्य सौंदर्य सामान्य अर्थ मे रस ही है।

प्रश्न उठता है कि रस एक आनंदमयी चेतना तो है परंतु यह जाग्रत किस में होती है और किस प्रकार होती है। आनंदमयी चेतना और अन्य प्रकार की चेतना में क्या अंतर है। रस का स्वरूप क्या है? अतः यहाँ सर्वप्रथम रस के स्वरूप पर विचार करना अपेक्षित है।

7.4 रस का स्वरूप

संस्कृत आचार्यों ने रस की जिन विशेषताओं का समय-समय पर उल्लेख किया है रस विषयक उन सभी विशेषताओं का सारांश आचार्य विश्वनाथ (14वीं शताब्दी) ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है -

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः। (साहित्यदर्पण)

यहाँ सत्वोद्रेक रस का हेतु या कारण है तथा अखंड स्वप्रकाशानंद चिन्मय आदि पदों के द्वारा रस के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। संस्कृत रसशास्त्र में रस के प्रधान लक्षण इस प्रकार हैं -

(1) जिसका आस्वादन हो वह रस है ('रस्यते इति रसः' या 'आस्वाद्यते इति रसः')। रस सहृदय संवेद्य है अर्थात् सहृदय ही रस का आस्वादन करता है।

(2) अनिवार्यतः यह आस्वाद आनंदमय है और इस आनंद की तीन विशेषताएँ हैं अखंडता चिन्मयता और वेद्यांतर स्पर्शशून्यता। 'अखंड' का यहाँ अर्थ है विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव, संचारी भाव आदि की खंड-खंड चेतना नहीं होती सभी की अखंड चेतना होती है। दूसरी विशेष बात यह कि उस समय किसी अन्य विषय की चेतना नहीं होती यही 'वेद्यांतरस्पर्शशून्य' अनुभूति है। 'चिन्मय' का अर्थ है यह अनुभूति बुद्धि मृण्मय न होकर विलक्षण आनंद की अनुभूति होती है।

(3) रस का आविर्भाव सत्व के उद्रेक होने पर ही होता है। रजोगुण और तमोगुण से रहित अंतःकरण को सत्व कहते हैं। सामान्य शब्दावली में कह सकते हैं - सांसारिक रागद्वेष से मुक्त चित्त की विशदता ही सतोगुण की स्थिति। यह आस्वाद ऐंद्रिय चेतना से भिन्न होने के कारण अत्यंत परिष्कृत कोटि का या उदात्त कोटि का होता है।

(4) रसानुभव अन्य ज्ञान के अनुभव से रहित है। रस पूर्ण तन्मयता की स्थिति है। आज के संदर्भ में इसका अर्थ हुआ रस की स्थिति में सहृदय स्व-पर की भावना से मुक्त हो जाता है देशकाल के बंधन से ऊपर उठ जाता है और स्थिति या प्रसंग से पूर्ण तादात्म्य का अनुभव करता है। यही स्थिति साधारणीकरण कहलाती है।

(5) रस स्वप्रकाशानंद है और चिन्मय भी, अर्थात् रसानुभूति आत्म-चैतन्य से प्रकाशित आनंदमयी चेतना है। इस आनंदमयी चेतना में मृण्मय अर्थात् घोर ऐंद्रिय अनुभूति का अभाव रहता है और

चैतन्य आत्मास्वाद का योग। इस तरह रस ऐंद्रिय सुख की अनुभूति मात्र नहीं है वह एक प्रकार का परिष्कृत आनंद है।

(6) रस 'लोकोत्तर चमत्कार प्राण' है। रस ऐसी चेतना है जिसमें ज्ञाता की चेतना विलीन हो जाती है। यह एक अलौकिक, अनिर्वचनीय स्थिति है। आधुनिक शब्दावली में अलौकिक काफी विवादास्पद शब्द है और अलौकिक को लेकर ही आधुनिक विचारकों ने रस सिद्धांत पर आक्षेप किए हैं। उनका कहना है कि काव्य लोक की वस्तु है लौकिक अनुभवों पर आधारित होती है। ऐसी स्थिति के कारण उसके आस्वाद को अलौकिक कहना कहाँ तक उचित है। लौकिक का अर्थ न अतींद्रिय है, न अतिप्राकृतिक, न आध्यात्मिक। अलौकिक अनुभूति का अर्थ है - ऐसी अनुभूति जो मात्र लौकिक न होकर लोकोत्तर हो, अर्थात् परिष्कृत अनुभूति।

(7) रस ब्रह्मास्वाद सहोदर है। सहोदर का अर्थ है सगाभाई अर्थात् रस ब्रह्मास्वाद (ईश्वरीय आनंद) का सगाभाई या ब्रह्मास्वाद के समान है। ब्रह्मास्वाद सहोदर का दूसरा विशिष्ट अर्थ हैं - रस विषयानंद से भिन्न चिन्मय अनुभव है। रस शुद्ध आत्मानंद या ब्रह्मास्वाद नहीं है क्योंकि ब्रह्मास्वाद स्थायी होता है, रस अस्थायी स्थिति है। इसके अलावा रस लौकिक स्थितियों का पूरी तरह लोप नहीं होता। मूल बात यह कि काव्यानंद और ब्रह्मास्वाद में बुनियादी अंतर है यह अंतर प्रकृति का नहीं गुण का है। अपने मूल में काव्यानंद और ब्रह्मास्वाद दोनों आत्मानंद के ही भेद हैं। सारांश यह है कि रस काव्य का आस्वाद है और यह आस्वाद एक प्रकार की आनंद चेतना है। आत्म-चेतना का अर्थ है आत्म साक्षात्कार का आनंद।

संस्कृत काव्यशास्त्र में रस के स्वरूप विषयक चर्चा पर पुनर्विचार करते हुए डॉ. नगेन्द्र ने रस के स्वरूप के विषय में तीन प्रश्न उठाए हैं और उनके समाधान का प्रयास किया है - (1) भावानुभूति और रसानुभूति का क्या संबंध है? (2) क्या रसानुभूति अनिवार्यतः आनंदमयी चेतना है? (3) यदि है तो इस आनंद का स्वरूप क्या है?

डॉ. नगेन्द्र के मत से प्रथम प्रश्न का उत्तर है रसानुभूति भावानुभूति से भिन्न है। भावानुभूति में व्यक्तिगत रागद्वेष का संसर्ग बना रहता है किंतु रसानुभूति व्यक्तिगत रागद्वेष के संसर्ग से मुक्त होती है। इस अनुभूति को ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'कविता क्या है' निबंध में 'हृदय की मुक्तावस्था' कहा है। दूसरे प्रश्न का उत्तर है कि रस अनिवार्यतः आनंदमय होता है। इस विषय में मतभेद है शृंगार, वीर, हास्य और शांत का आस्वाद तो आनंदमय होता है किंतु करूण, भयानक, वीभत्स का आस्वाद भी आनंदमय होता है यह विवाद का विषय है। तीसरे प्रश्न का उत्तर है रस में 'हर्षादि' पद के आधार पर विद्वान यह कहते हैं कि रस का आस्वाद केवल आनंद रूप नहीं है स्थायी भाव के आस्वाद के आधार पर वह विपरीत भी हो सकता है। जैन आचार्य रामचन्द्र, गुणचन्द्र ने स्पष्ट कहा है कि रस सुखात्मक तथा दुःखात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। रौद्र, वीभत्स, करूण और भयानक यह चार उनके मत से दुःखात्मक रस हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में 'रस अनिवार्यतः आनंदमयी चेतना है' का इतना स्पष्ट विरोध रामचन्द्र गुणचन्द्र करते हैं। (रस-सिद्धांत)

संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा ही आधुनिक भारतीय भाषाओं में आती है। जयशंकर प्रसाद 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' नामक पुस्तक में रस को आनंदमयी चेतना मानते हैं। आचार्य केशव प्रसाद मिश्र, बाबू श्यामसुंदर दास, बाबू गुलाबराय, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सभी रस को आनंद स्वरूप ही मानते हैं किंतु इस परंपरा में रामचन्द्र शुक्ल एक ऐसे आचार्य हैं जो रस के समर्थ पोषक होते हुए भी रस की आनंदरूपता का स्पष्ट विरोध करते हैं - 'मेरी समझ में रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप 'आनंद' शब्द से व्यक्त नहीं होता। 'लोकोत्तर', 'अनिर्वचनीय' आदि विशेषणों से न तो उसके अवाचकत्व का परिहार होता है न प्रयोग का प्रायश्चित। क्या क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि आनंद का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय में प्रगट होते हैं? अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते हैं? उसे कुछ भी लगा नहीं रहने देते? क्या 'विभावत्व' उनका स्वरूप हर कर उन्हें एक ही स्वरूप-सुख का दे देता है? क्या मृत पुत्र के लिए विलाप करती हुई शैव्या से राजा हरिश्चन्द्र का कफन माँगना देख सुनकर आँसू नहीं आ जाते, दाँत निकल पड़ते हैं? क्या महमूद के अत्याचारों का वर्णन पढ़कर यह जी में नहीं आता कि वह सामने आता तो उसे कच्चा खा जाते? क्या कोई दुःखांत कथा पढ़कर बहुत देर तक उसकी खिन्नता नहीं बनी रहती? चित्त् का यह द्रुत होना क्या आनंदगत है? इस 'आनंद' शब्द ने काव्य के महत्व को बहुत कुछ कम कर दिया है। उसे नाच तमाशे की तरह बना दिया है।' ('रस मीमांसा', पृ. 101) इस प्रकार आचार्य शुक्ल के मत से रस आनंद स्वरूप नहीं है।

हिंदी काव्यशास्त्र में डॉ. नगेन्द्र ने 'रस सिद्धांत' नामक पुस्तक में रसानंद के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। उन्होंने 'रीतिकाव्य की भूमिका' में लिखा है - 'वास्तव में संवेदना न अपने आप में कटु है और न मधुर। कटुता और मधुरता तो अनुभूति का गुण है। अनुभूति में एक पृथक संवेदन नहीं होता, संवेदनों का एक विधान होता है। जब संवेदनों में सामंजस्य और अन्विति स्थापित हो जाती है तो हमारी अनुभूति मधुर होती है, और जब ये विश्रृंखल और विकीर्ण होते हैं तो अनुभूति कटु होती है। काव्य से प्राप्त संवेदन प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म बिंब-रूप होते हैं। एक तो इसी कारण उनकी कटुता अत्यंत क्षीण हो जाती है। दूसरे वे कवि द्वारा भावित होते हैं इसलिए अनिवार्यतः उनमें सामंजस्य स्थापित हो जाता है क्योंकि काव्य के भावन का अर्थ ही अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करना है और अव्यवस्था में व्यवस्था ही आनंद है। इस प्रकार जीवन के कटु अनुभव भी काव्य में अपने तत्व रूप में संवदेन के समन्वित हो जाने से आनंदप्रद बन जाते हैं।'

इस प्रकार रस न सुखात्मक है न दुःखात्मक। रसदशा हृदय की मुक्तावस्था का नाम है जिसमें वैयक्तिक रागद्वेष का सर्वथा शमन हो जाता है। रस सरल अनुभूति नहीं है। उसमें अनेक परस्पर विरोधी अंतर्वृत्तियों का घुलन-मिलन-संतुलन रहता है। अतः वह जीवन का वैविध्यपूर्ण अनुभव है।

7.5 करुण रस का आस्वाद

रस अनिवार्यतः आनंदरूप होता है अथवा दुःखात्मक अनुभव है यह प्रश्न स्वभावतः सामने आता रहा है। भारतीय काव्यशास्त्र का अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न है करूणादि रसों का आस्वाद आनंदप्रद कैसे हो सकता है? यह सच है कि यह प्रश्न भारतीय आचार्यों के लिए अधिक विवाद का विषय नहीं रहा फिर भी इसके विषय में वे अपने ढंग से सजग अवश्य रहे हैं। काव्य रस अलौकिक या लोकोत्तर होता है अतः लौकिक कार्यकारण संबंध उसके लिए अनिवार्य नहीं है। दुःख से दुःख की उत्पत्ति तो लौकिक नियम है, किंतु कवि प्रतिभा के स्पर्श से काव्य में दुःख से सुख की उत्पत्ति सहज संभव है। प्रतिभा का यही चमत्कार अलौकिकता है। आचार्य पंडितराज जगन्नाथ ने कहा है - 'यह अलौकिक व्यापार (व्यंजना) की महिमा है उसके द्वारा अभिव्यक्त अरमणीय शोकादि पदार्थ भी अलौकिक आनंद को उत्पन्न करने लगते हैं।' (रस गंगाधर)।

रस की अलौकिकता का अर्थ ही है लौकिक संबंध भावना से मुक्त हो जाना। देश-विदेश में काव्य को दैवी प्रेरणा या दैवी शक्तियों से विभूषित माना जाता रहा है। काव्यगत प्रतिभा सामान्य मानव प्रतिभा से अलग है इसलिए काव्यगत स्थायी भाव का अनुभव लौकिक शोक के अनुभव से भिन्न है।

लेकिन संस्कृत काव्यशास्त्र में भट्टनायक जैसे आचार्य भी हैं जो यह तर्क उपस्थित करते रहे हैं कि यदि रस की सामाजिक द्वारा प्रतीति मानी जाए तो करूण रस में दुःख की अनुभूति स्वीकार करनी होगी। काव्य में भावकत्व का अर्थ है शब्दार्थ को दोषमुक्त तथा गुणालंकार युक्त करने वाला व्यापार अर्थात काव्य कौशल। यह व्यापार अभिधा द्वारा वाच्यार्थ का बोध हो जाने के उपरांत आरंभ होता है। इसके दो कार्य हैं - (1) पाठक की चेतना को निविड़ निज मोह संकट से मुक्त करना (2) विभावादि का साधारणीकरण करना। काव्यास्वादन के समय पाठक लोकानुभव की भाँति शोकादि स्थायी भावों की दुःखमय प्रतीति नहीं करता। अतः करुण रस का आस्वाद दुःखमय नहीं होता। रस की न तो उत्पत्ति या प्रतीति होती है और न लौकिक भोग। रस तो एक प्रकार का आत्मास्वाद है और इस आत्मास्वाद में सुख या दुःख का प्रवेश नहीं है क्योंकि आत्मा आनंद रूप है अतः करुण रस में व्यक्तिबद्ध शोक की प्रतीति नहीं होती अपितु साधारणीकृत आत्मा का सहज आनंद रूप मिलता है। रसवादियों में एक तर्क शारदातनय का है जो यह मानते हैं कि यह संसार दुःख मोहादि से कलुषित है और जीवात्मा अपने राग, विद्या और कला, इन तीन तत्वों के द्वारा उसका भोग करता है।

इनमें राग सुखत्व का अभिमान है, विद्या के द्वारा अविद्या से आच्छन्न (ढके हुए) चैतन्य का ज्ञान अभिव्यक्त होता है और कला आत्मा को प्रदीप्त करने वाला कारण है। इसी न्याय से प्रेक्षक शोक, भय, ज्ञान आदि से निष्पन्न करूण, भयानक वीभत्स आदि रसों का अपने आत्मस्थ तीन तत्वों - राग, विद्या या कला के द्वारा चर्वण या भोग करता है।

मूल अर्थ यह है कि काव्य का शोक व्यक्तिगत न रहकर साधारणीकृत हो जाता है। 'उत्तर रामचरितम्' में राम की उदात्त कर्त्तव्य भावना उनके व्यक्तिगत दुख को विशेष गरिमा से मंडित कर देती है। यहाँ

पाठक या प्रेक्षक जीवन के गहनतर अर्थों का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार जीवन के कटु अनुभव अपने आधारभूत संवेदनों के समन्वित हो जाने से आनंद की ही अनुभूति कराते हैं। पश्चिम में अरस्तू के विरेचन सिद्धांत पर भी विद्वानों ने निरंतर बहस की है और अंत में यह निष्कर्ष निकाला है कि त्रासदी का अनुभव भी अंततः आनंद में परिणत हो जाता है।

7.6 रस की निष्पत्ति

भरतमुनि के प्रसिद्ध सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति' में 'निष्पत्ति' शब्द का शब्दार्थ है - **प्रकाशन, उत्पत्ति अथवा परिपक्वता**। भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य की सौंदयानुभूति के समकक्ष रस निष्पत्ति शब्द को स्वीकृति मिली है। वस्तुतः काव्यानुभूति, काव्यानंद आदि शब्द एक प्रकार से रस-निष्पत्ति के ही समानार्थी है। भरत के सूत्र में निष्पत्ति और संयोग प्रमुख शब्द रहे हैं और परवर्ती आचार्यों ने इन शब्दों की व्याख्या अपने-अपने मत के अनुसार की है। भरत के शब्दों में विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत ने छह प्रकार के विभिन्न स्वादों वाली वस्तुओं के मेल से बने आपानक से इसकी तुलना करके समझाने का प्रयत्न किया है और आस्वाद्य होने को कारण इसे रस माना है। आगे चलकर भरत ने स्थायी भाव के आस्वादन को रस निष्पत्ति के रूप में ग्रहण किया। भाव और रस के संबंध पर विचार करके भी वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि रस और भाव एक-दूसरे पर आश्रित हैं।

7.6.1 भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद या आरोपवाद

भरत सूत्र के आधार पर रस की व्याख्या करने वाले प्रथम आचार्य भट्ट लोल्लट माने जाते हैं। इनके ग्रंथ का पता नहीं लग सका है। केवल 'अभिनवभारती' में अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत इनका मत आगे के आचार्यों के लिए तर्क-वितर्क का कारण रहा है। अभिनवभारती के अनुसार भट्ट लोल्लट का मत है -

(1) विभावादि का स्थायी भाव से संयोग होने पर रस निष्पत्ति होती है।

(2) विभाव रस के कारण स्वरूप है। इनके द्वारा स्थायी भाव की उपचित अवस्था का नाम है रस

(3) यह रस मूलतः अनुकार्य अर्थात् राम आदि ऐतिहासिक पात्रों में ही होता है किंतु उनके रूपादि के अनुसंधान से अनुकर्ता नट में भी विद्यमान होता है।

इस प्रकार भट्ट लोल्लट के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति या पुष्टि है। विद्वानों ने इस सिद्धांत को **'उत्पत्तिवाद'** का नाम दिया है। भट्ट लोल्लट के इस सिद्धांत में संयोग का वही अर्थ है जो भरत ने किया है अर्थात् स्थायीभाव के साथ संयोग उत्पत्ति का अर्थ यहाँ वास्तव में अभाव में भाव की कल्पना है। इस सिद्धांत को **'आरोपवाद'** भी कहते हैं। अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत अर्थ में आरोप का मतलब होगा नट (अभिनेता) का कुछ समय के लिए अपने को रामादि (नाटक का मूल पात्र) समझना। **आरोप** में तादात्म्य बहुत कुछ बाह्य रहता है **'अभिमान'** में आंतरिक हो जाता है। सामाजिक या दर्शक नट में राम का आरोप कर उसमें रामगत रस की प्रतीति कर लेता है। अर्थात नट में अनुकार्य की तुल्यता के अनुसंधान के कारण सामाजिक उन्हीं पर अनुकार्य का आरोप कर लेता है और चमत्कृत होता है। भट्ट लोल्लट ने संयोग को तीन अर्थों में स्वीकार किया -

(1) स्थायी भाव विभाव के साथ उत्पाद्य-उत्पादक संबंध से उत्पन्न होते हैं।

(2) अनुभाव अनुमाप्य-अनुमापक संबंध से उनकी अनुमिति कराते हैं।

(3) संचारी भाव पोष्य-पोषक भाव संबंध से उनकी रस-रूप में पुष्टि करते हैं। इस रस की स्थिति यद्यपि मूल रूप में अनुकार्य में ही होती है पर अभिनेता के कौशलपूर्ण अभिनय के कारण दर्शक उसी पर अनुकार्य का आरोप करता है।

भट्ट लोल्लट सहृदय या सामाजिक के आनंद का निषेध नहीं करते किंतु उनकी धारणा है कि रस का वास्तविक आस्वादन मूल ऐतिहासिक नायक-नायिका ही करते हैं। दर्शक या सामाजिक के हृदय में तो नर-नारी के माध्यम से उनके रस की प्रतीति करके रस उत्पन्न होता है। अर्थात् नायक-नायिका का रस है वास्तविक तथा सामाजिक (दर्शक) का रस है प्रतीति से उत्पन्न रस और इसके माध्यम हैं नट-नटी। सामाजिक नट-नटी में मूल नायक-नायिका का आरोप करके नाटक का आनंद लेता है।

यहाँ पर दो-तीन प्रश्न विचारणीय हैं - (1) नायक-नायिका, उदाहरण के लिए दुष्यंत शकुंतला से क्या आशय है - मूल ऐतिहासिक दुष्यंत शकुंतला या नाटक में वर्णित दुष्यंत शकुंतला (2) नट-नटी का इनसे क्या संबंध है (3) रस की प्रतीति से सामाजिक के हृदय में रस कैसे उत्पन्न होता है?

भट्ट लोल्लट का उत्तर है रस का वास्तविक अनुभव करते हैं मूल नायक-नायिका। प्रश्न उठता है कि नायक-नायिका से आशय क्या है? उस दुष्यंत शकुंतला से जिसे हम 'महाभारत' में पढ़ते हैं या जिसे कालिदास ने उसी रूप में पढ़ा होगा अथवा कालिदास द्वारा प्रस्तुत दुष्यंत शकुंतला से जो महाभारत में प्रस्तुत दुष्यंत शकुंतला से कुछ भिन्न अवश्य हैं। भटटलोल्लट का आशय निश्चय ही ऐतिहासिक दुष्यंत शकुंतला से है। गहराई में जाएँ तो पता चलता है कि महाभारत के दुष्यंत शकुंतला भी ऐतिहासिक दुष्यंत शकुंतला नहीं है।

भट्ट लोल्लट रस की स्थिति ऐतिहासिक दुष्यंत शकुंतला में ही मानते हैं। प्रेक्षक नट-नटी के अभिनय से उनकी कल्पना कर लेता है और उसे रस की प्राप्ति होती है। एक प्रकार से लोल्लट ने ऐतिहासिक व्यक्तियों में रस की स्थिति मानकर काव्य विषय की महत्ता का प्रतिपादन किया है। लोल्लट के इस मत की सीमा यह है कि वे ऐतिहासिक व्यक्ति और कवि द्वारा अंकित व्यक्तियों का अंतर स्पष्ट नहीं कर सके क्योंकि इसमें कल्पित घटना वाली रचनाओं के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता।

7.6.2 शंकुक का अनुमितिवाद

रस सूत्र की व्याख्या करने वाले दूसरे आचार्य शंकुक (नवीं शताब्दी) हैं जिन्होंने न्याय दर्शन के अनुमान प्रमाणवाद सिद्धांत के आधार पर अनुमितिवाद की स्थापना की। भट्ट लोल्लट का विरोध करते हुए उन्होंने 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' किया। अर्थात् उन्होंने कहा कि रस उत्पन्न नहीं होता, अनुमित होता है। रस की मूल स्थिति शंकुक भी ऐतिहासिक नायक-नायिका में ही मानते हैं किंतु प्रेक्षक उसको प्रत्यक्ष देखकर आरोप के द्वारा प्राप्त नहीं करते वरन् अनुमान से प्राप्त करते हैं। शंकुक का कहना है कि दूसरों को रस दशा में देखकर पहले तो दर्शक को रस की प्रतीति ही नहीं हो सकती, यदि कुछ अनुभव होता भी है तो जरूरी नहीं कि वह अनुकूल ही हो, प्रतिकूल न हो। उदाहरण के लिए नायक-नायिका की प्रत्यक्ष शृंगार रसानुभूति सहृदय (दर्शक) में संकोच या ईर्ष्या की भावना जाग्रत कर सकती है दूसरी बात यह कि जिन नायक-नायिका को हमने कभी देखा नहीं उनके रसास्वादन की अनुभूति हम कैसे कर सकते हैं? उत्तर दिया जा सकता है कि कल्पना के द्वारा। किंतु 'शंकुक' का यह समाधान नहीं है। शंकुक ने रस की प्रतीति न मानकर चित्र-तुरंग-न्याय के आधार पर इसका अनुमान ही संभव माना है। शंकुक का सिद्धांत इस प्रकार है -

भरत ने स्थायी भाव और रस में कोई अंतर नहीं माना। स्थायी भाव की मूल अनुभूति तो मूल नायक-नायिका को ही होती है रंगमंच पर नट-नटी सफल अभिनय करते हैं तो प्रेक्षक **चित्र तुरंग न्याय** से उन्हीं को नायक-नायिका समझ लेता है और उनके अभिनय से चमत्कृत होकर मूल भाव का अनुभव करता है जिस प्रकार बच्चा घोड़े के चित्र को देखकर उसे वास्तविक घोड़ा समझ लेता है उसी तरह प्रेक्षक रामादि पात्रों को नट-नटी द्वारा अभिनय देख उन्हें वास्तविक पात्र मान लेता है यह मूल पात्रों की वैसी ही प्रतीति है जैसी बच्चे को घोड़े की प्रतीति होती है। यह अनुमित भाव ही रस है और स्थायी भाव से भिन्न न होकर उसका अनुमित रूप ही है। दर्शनशास्त्र में अनुमान को चित्र-तुरंग-न्याय कहते हैं। शंकुक पर न्यायदर्शन का प्रभाव है।

परवर्ती आचार्यों ने शंकुक के अनुमितिवाद का खंडन यह कहकर किया है कि अनुमान तो वास्तविकता के आधार पर किया जा सकता है कृत्रिम विभावादि के द्वारा इसकी सिद्धि कैसे हो सकती है? शायद शंकुक का ध्यान इस ओर था। उन्होंने अभिनेता के कौशल के सहारे अनुमान की सिद्धि मानी है। साथ ही उन्होंने दूर की उठी हुई धूल को धुँआ समझकर अग्नि के अनुमान की बात कही है। पर रंगमंच के अभिनय को लेकर इस प्रकार के अनुमान की बात नहीं की जा सकती क्योंकि प्रेक्षक पहले ही जानता है कि अभिनय करने वाले पात्र वास्तविक नहीं हैं।

7.6.3 भट्टनायक का भोगवाद

भरत के रससूत्र की व्याख्या करने वाले तीसरे आचार्य भट्टनायक (दसवीं शताब्दी) हैं। इनका सिद्धांत भोगवाद कहलाता है। भट्टनायक ने अपने पूर्ववर्ती सिद्धांतकारों का खंडन करते हुए कहा कि शंकुक ने अनुमान सिद्धांत के द्वारा मूल बात को उलझा दिया है। लोल्लट और शंकुक तथा ध्वनिकार की बात

का खंडन करते हुए उन्होंने कहा कि रस का न तो ज्ञान होता है, न उत्पत्ति, न अभिव्यक्ति। यदि रस दूसरे के भाव के साक्षात्कार अथवा ज्ञान से उत्पन्न होता है तो शोक से शोक की उत्पत्ति होनी चाहिए आनंद की नहीं, और शोक प्राप्त करने के लिए कोई नाटक क्यों देखेगा अथवा काव्य क्यों पढ़ेगा। दूसरी बात यह कि रस यदि, सहृदय के हृदय में ही स्थित है और विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से अभिव्यक्त हो जाता है तो प्रश्न उठता है कि नायक का व्यक्तिगत भाव प्रेक्षक के वैसे ही व्यक्तिगत भाव को कैसे अभिव्यक्त कर सकता है।

भट्टनायक ने रस की स्थिति न तो नायक-नायिका में मानी और न नट-नटी में। रस की स्थिति उन्होंने सीधे सहृदय में मानी। उनके अनुसार काव्य में तीन शक्तियाँ रहती हैं - (1) अभिधा (2) भावकत्व और (3) भोजकत्व। अभिधा वह शक्ति है जिसके द्वारा पाठक या दर्शक काव्य के शब्दार्थ को ग्रहण करता है। दूसरी शक्ति है भावकत्व जिसके द्वारा उसे उस अर्थ का भावन होता है। भाव का भावन होने पर भाव की वैयक्तिकता का नाश होकर **साधारणीकरण** हो जाता है और भाव विशिष्ट न रहकर साधारण बन जाता है। उदाहरण के लिए दुष्यंत की शंकुतला के प्रति रति पाठक के लिए स्त्री पुरुष मात्र की रति रह जाती है। प्रेक्षक के हृदय में सहज साधारण भाव का अर्थ है - रजोगुण, तमोगुण का लोप होकर सतोगुण का आविर्भाव हो जाता है और पाठक भाव का भोग करता है। भाव का भोग या भोजकत्व व्यापार ही रस है। इस प्रकार रस की अभिव्यक्ति नहीं भोग या भुक्ति होती है। इसीलिए इस सिद्धांत को भोगवाद कहते हैं।

यहाँ भट्टनायक ने भारतीय काव्यशास्त्र के अति महत्वपूर्ण सिद्धांत - साधारणीकरण सिद्धांत - को जन्म दिया। भट्टनायक के मत से 'निष्पत्ति' का अर्थ हुआ भावित होना। विभावादि के साथ संयोग होने से स्थायी भाव भावित होकर रस रूप में परिणत हो जाता है यही रस की निष्पत्ति है। विभावादि भावन क्रिया के कारक हैं और स्थायी भाव भाव्य। अतः 'संयोग' का अर्थ हुआ भावक-भाव्य संबंध। इस प्रकार रस का स्थान है सहृदय का चित्त। डॉ. नगेन्द्र का कहना है - 'कतिपय विद्वानों का मत है कि भट्टनायक रस की स्थिति शब्दार्थ में मानते हैं। आरंभ में हमारी भी यही धारणा थी किंतु इसमें अधिक सार नहीं है। अभिनवभारती आदि में उद्धृत भट्टनायक के मंतव्य के विश्लेषण तथा अभिनव द्वारा उसके खंडन से इस मत का निश्चित निराकरण हो जाता है' (रस सिद्धांत)।

भट्टनायक के मत का मूल्यांकन : भट्टनायक के इस मत की शक्ति यह है कि उन्होंने पहली बार इस दिशा में सफल प्रयत्न किया कि काव्यानंद आत्मा में विश्रांति का नाम है। यह विश्रांति सत्वगुण के उद्रेक की अवस्था में होती है। अभिनवगुप्त के विचार से भट्टनायक के मत की सीमा यह है कि वे रस और रसभोग का अंतर स्पष्ट नहीं कर सके। दूसरा यह कि प्रतीति और भुक्ति का भेद मिथ्या है। भुक्ति भी प्रतीति ही है। अतः रस-प्रतीति का खंडन कर रस-भुक्ति की स्थापना संगत नहीं है। तीसरा यह कि भट्टनायक द्वारा प्रस्तुत भोग के स्वरूप की व्याख्या तात्विक नहीं है। अभिनवगुप्त ने कहा कि अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व तीनों की चर्चा ही रस निष्पत्ति के संदर्भ में अप्रासंगिक है।

7.6.4 अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

भरत रस सूत्र के चौथे व्याख्याता हैं अभिनवगुप्त (दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी)। वस्तुतः इनकी 'नाट्य-शास्त्र' पर **'अभिनवभारती'** नामक और 'ध्वन्यालोक' पर **'लोचन'** नामक टीकाओं के आधार पर ही रस सिद्धांत के अन्य आचार्यों के मतों की स्थापना भी की जा सकी है। अभिनवगुप्त का सिद्धांत अभिव्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है जो प्रायः शैव दर्शन पर आधारित माना जाता है। अभिनव ने भट्टनायक के भोगवाद की आलोचना करते हुए कहा कि उन्होंने तीन शक्तियों की कल्पना व्यर्थ की क्योंकि काव्य में यह कार्य लक्षणा तथा व्यंजना से संपादित हो जाता है। जिस प्रकार धरती में बीज पड़े रहते हैं और अनुकूल स्थिति पाने पर अंकुरित हो जाते हैं उसी प्रकार सहृदय के मन में स्थायी भाव रूपी बीज पड़े रहते हैं जो अनुकूल परिस्थिति पाने पर अभिव्यक्त हो जाते हैं। सहृदय के मन में रति, शोक, निर्वेद आदि स्थायी भाव बीज की तरह पड़े रहते हैं नाटक या कविता देखने या पढ़ने से काव्य-प्रतिपादन के आधार पर अनुकूल परिस्थिति पाकर सहृदय का स्थायी भाव अभिव्यक्त हो जाता है यही **अभिव्यक्तिवाद** है। अभिनवगुप्त के मत का सारांश इस प्रकार है -

(1) **निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है अर्थात नाटक अथवा काव्य के उपकरणों द्वारा साधारणीकृत होकर - व्यक्तिगत रागद्वेष आदि की चेतना से मुक्त होकर रति आदि भाव सुखमय प्रतीति के विषय बन जाते हैं। यह सुखमय प्रतीति ही रस है।**

(2) **रस की प्रतीति तो सहृदय की आत्मा ही करती है किंतु यह प्रतीति वैयक्तिक न होकर निर्वैयक्तिक होती है।**

(3) साधारणीकरण व्यष्टि के धरातल पर ही न होकर समष्टि के धरातल पर भी होता है।

(4) स्थायी भाव प्रत्येक सहृदय के चित्त में संस्कार रूप से विद्यमान रहते हैं। संस्कार रूप होने के कारण वे समान भी होते हैं।

(5) काव्यात्मक शब्द से सहृदय व्यक्ति को सामान्य अर्थबोध से अधिक प्रतीति होती है।

(6) भोजकत्व की शक्ति तो शब्दार्थ में मानी ही नहीं जा सकती वह तो चित्त की क्रिया है। शब्दार्थ इस क्रिया का प्रेरक मात्र और यह शक्ति उसे व्यंजना से प्राप्त होती है। अतः निष्पत्ति का अर्थ हुआ **अभिव्यक्ति** और संयोग का अर्थ हुआ **व्यंग्य-व्यंजक** संबंध।

7.6.5 अभिनवगुप्त के मत का महत्व

भारतीय काव्यशास्त्र में व्यापक समर्थन अभिनवगुप्त के मत को ही मिला। निस्संदेह ही उनका विवेचन अत्यंत प्रौढ़ एवं पुष्ट है। अभिनवगुप्त ने ही सर्वप्रथम रस के सहृदयनिष्ठ रूप की प्रतिष्ठा की। रसास्वाद आनंदमय ही होता है यह स्थापना तो भट्टनायक ने की थी किंतु अभिनवगुप्त ने उसे शैव आनंदवाद का आधार प्रदान कर सर्वथा प्रामाणिक सिद्ध कर दिया। परिणामतः निरानंदवादी जैन आचार्यों ने जितने भी विकल्प प्रस्तुत किए थे वे सब निरर्थक सिद्ध हो गए। अभिनवगुप्त के रस विवेचन की सबसे बड़ी शक्ति है समष्टिगत रस की कल्पना।

अभिनवगुप्त के परवर्ती आचार्यों में महिम भट्ट ने व्यंजनावृत्ति का निषेध किया किंतु महिमभट्ट अभिनवगुप्त की प्रतिभा के सामने टिक नहीं सके। पीछे से मम्मट (13वीं-14वीं शताब्दी) और पंडितराज जगन्नाथ (सत्रहवीं शताब्दी) ने रस प्रसंग में विस्तार से चर्चा की। पंडितराज ने 'रसगंगाधर' नामक ग्रंथ के प्रथम आनन में रस विषयक ग्यारह मतों का उल्लेख एवं विवेचन किया। विशेष बात यह है कि पंडितराज में अभिनवगुप्त के प्रति पूर्ण आस्था है।

पंडितराज के बाद रस चिंतन की परंपरा हिंदी के रीतियुगीन आचार्यों के हाथ में पड़ गई और वे लंबे समय तक उसका वर्णन विवेचन करते रहे किंतु रीतिकालीन आचार्य रस या निष्पत्ति के क्षेत्र में कुछ नया योगदान नहीं दे सके। आधुनिक युग में आकर मराठी और हिंदी में प्राचीन काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों के पुनर्विचार का श्रीगणेश हुआ। आधुनिक हिंदी के विचारकों में भारतेंदु, हरिऔध, महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुंदरदास, केशवप्रसाद मिश्र, रामदहिन मिश्र, रामचंद्र शुक्ल, बाबू गुलाबराय, जयशंकर प्रसाद, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. निर्मला जैन आदि ने रस सिद्धांत की विवेचना की है और अपने-अपने ढंग से महत्व भी प्रदान किया है। हिंदी के ज्यादातर विद्वानों पर भरत और अभिनवगुप्त के रस संबंधी चिंतन का गहरा प्रभाव है, पर साधारणीकरण की स्थिति के संबंध में मौलिक ढंग से सोचने का प्रयत्न किया गया है आचार्य शुक्ल ने इस विषय पर 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' निबंध में विचार किया। आचार्य शुक्ल का दृष्टिकोण लोकमंगल पर आधारित रहा है। उनके रस संबंधी चिंतन के ग्रंथ 'रस-मीमांसा' में भी यही दृष्टि सक्रिय है। आचार्य शुक्ल ने मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में रस की नवीन व्याख्या की और लोक हृदय में अपने हृदय को मिला देना ही रस दशा स्वीकार किया। आचार्य शुक्ल के समय में ही जयशंकर प्रसाद ने 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' में रस की अभिनवगुप्तीय व्याख्याओं का नए ढंग से प्रतिपादन किया। तत्पश्चात् रस संबंधी चिंतन को डॉ. नगेन्द्र ने 'रस-सिद्धांत' बाबू गुलाब राय ने 'सिद्धांत और अध्ययन', डॉ. निर्मला जैन ने 'रस-सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र' डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने 'मध्ययुगीन रस दर्शन और सौंदर्यदृष्टि' जैसी महत्वपूर्ण पुस्तकों में विस्तार से प्रस्तुत किया। आचार्य शुक्ल की व्याख्याओं को डॉ. नगेन्द्र ने 'रस-सिद्धांत' में आगे बढ़ाया और डॉ. निर्मला जैन ने भारतीय रस सिद्धांत और पश्चिमी सौंदर्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए रस का आधुनिक दृष्टि से विश्लेषण विवेचन किया। डॉ.नगेन्द्र के 'रस सिद्धांत' की स्थापनाओं को लेकर हिंदी की शुक्लोत्तर समीक्षा में नई बहसों का आरंभ हुआ और रचनाकार तथा आलोचक रस-सिद्धांत की शक्ति और सीमाओं पर विचार करेन के लिए विवश हुए।

7.7 रस सिद्धांत की शक्ति और सीमाएँ

रस सिद्धांत में हृदय के राग-तत्व की प्रधानता है और शब्दार्थ के कल्पनात्मक प्रयोग का महत्व भी कम नहीं है। भरत के वस्तुपरक अर्थ में तो उसका महत्व स्पष्ट ही है और भट्टनायक का भावकत्व व्यापार वस्तुतः कला तत्व ही है जिसे अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण व्यापार में स्वीकार किया है। वास्तव में रस कल्पना काव्यास्वाद की एक समग्र दृष्टि से कल्पना है। रस की परिधि में भाव तत्व,

कल्पना तत्व, बुद्धि तत्व और कला तत्व का भी अपने-अपने ढंग से समावेश हुआ है। रसाचार्यों ने रस की परिधि के अंतर्गत भाव, भावाभास, रस, रसाभास आदि का विवेचन किया है और रस के साथ 'काव्य का अधिकारी' या 'सहृदय' की चर्चा भी विस्तार से हुई है। वास्तविक रूप में रस आत्मानंद का नहीं काव्यानंद का पर्याय है। रस सिद्धांत के प्रवर्तक भरत की दृष्टि में रस पदार्थ है - 'रस इति कः पदार्थः'। रस-चिंतन को अभिनवगुप्त ने नया आध्यात्मिक रंग दे दिया जो बाद तक चलता रहा। किंतु हिंदी के आधुनिक काव्यशास्त्र में आचार्य शुक्ल ने अभिनवगुप्त की आध्यात्मिक रस व्याख्याओं को अस्वीकार करते हुए रस की वस्तुपरक व्याख्या की। जयशंकर प्रसाद रस की आत्मवादी व्याख्या करते रहे। किंतु इस व्याख्या से अलग हटकर नगेन्द्र और हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रस को छायावाद की सौंदर्य चेतना के परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित किया। हिंदी समीक्षा में रस-सिद्धांत के साथ आभिजात्यवाद, स्वच्छंदतावाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद, सौंदर्यशास्त्र आदि का थोड़ा बहुत तुलनात्मक अध्ययन भी शुरू हुआ और ज्यादातर विद्वानों ने रस-चिंतन को स्वच्छंदतावाद और सौंदर्यवाद के अधिक निकट पाया है।

यथार्थवाद और मार्क्सवाद ने शास्त्रीय रस चिंतन के विरोध का स्वर ऊँचा किया और कहा कि प्रगतिवादी साहित्य आनंदवादी मूल्यों पर आधारित न होकर चेतना विकास के नैतिक मूल्यों पर आधारित होता है। मार्क्सवादियों ने रसवादियों की ब्रह्मास्वादसहोदर दृष्टि की खिल्ली उड़ाई लेकिन साधारणीकरण सिद्धांत का वे निषेध नहीं कर सके। प्रगतिवाद की प्रमुख मान्यता है कि साधारणीकरण सामष्टिगत काव्यचेतना का सिद्धांत है और संप्रेषण सिद्धांत की व्यावहारिक परिणति भी। नयी कविता के युग में रस चिंतन को पूरी तरह अस्वीकार कर दिया गया। अज्ञेय, रामस्वरूप चतुर्वेदी, विजयदेव नारायण साही, रघुवंश, जगदीश गुप्त, डॉ. नामवर सिंह आदि सभी ने एक स्वर से कहा कि अब रस को काव्य का प्रतिमान नहीं बनाया जा सकता। नयी कविता रस की कविता नहीं है। वह नई परिस्थितियों के विस्फोट की कविता है जिसमें द्वंद्व, तनाव पीड़ा और अवसाद की तीखी अभिव्यक्ति है। अज्ञेय और जगदीश गुप्त आदि ने रस सिद्धांत के विरोध में निम्नलिखित तर्क दिए हैं -

(1) रस का आधार है - समाहिति, अद्वंद्व, किंतु नयी कविता द्वंद्व और असामंजस्य की कविता है।

(2) नयी कविता वर्तमान पर क्रेंदित है जब कि रस की दृष्टि अतीतोन्मुख रहती है। नयी कविता का विषय है क्षण की अनुभूति जब कि रस का आधार है जन्मांतरगत वासना और स्थायीभाव।

(3) रस-सिद्धांत में कवि व्यक्तित्व की पूर्ण उपेक्षा है जिसे रसानुभूति के समकक्ष सह अनुभूति की संज्ञा दी जा सकती है। रसानुभूति में व्यक्तित्व और विवेक का परिहार होना आवश्यक है किंतु सहअनुभूति का आस्वादन व्यक्ति चेतना के साथ ही हो सकता है। आत्म-विलयन के आनंद और भावावेग के परिपाक की दृष्टि से रसानुभूति अवश्य ही उत्कृष्ट कोटि की कही जाएगी, परंतु मानवीयता के विचार से सहअनुभूति को उससे उत्कृष्टतर मानना ही विवेक संगत दिखाई देता है।

(4) नयी कविता की अनुभूति आनंदमयी नहीं है। नयी कविता आकर्षण को नहीं विकर्षण को महत्व देती है। व्यंग्य करना, वैचारिक झटके से झकझोर देना, खिजाना, भीतरी तड़प पर ध्यान दिलाना और सोचने पर मजबूर करना उसका स्वभाव है, वह रिझाने से ज्यादा सताती है और उसमें जीवन के भयानक तथ्यों और दुर्घटनाओं का अंबार लगा होता है।

(5) नयी कविता, भाव केंद्रित न होकर विचार केंद्रित कविता है। वास्तव में नयी कविता का मूल स्वर रागात्मक नहीं बौद्धिक है। उसमें एक अंतर्निहित आलोचनात्मकता और यथार्थ चित्रण का आग्रह मिलता है।

इस प्रकार नयी कविता के सिद्धांतकार और रचनाकारों ने रस प्रतिमान की प्रासंगिकता को अस्वीकार कर दिया है। रस को काव्यमूल्य इसलिए नहीं माना जा सकता कि आज हम धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' या मोहन राकेश के नाटक 'आधे अधूरे' या अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' की या निर्मल वर्मा की कहानी 'परिंदे' की अगर रस के प्रतिमान से व्याख्या करेंगे तो न केवल इन कृतियों के साथ ही अन्याय होगा अपितु ऐसी समीक्षा उपहास का कारण भी बनेगी। जाहिर है कि आज मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' का मूल्यांकन रस सिद्धांत के आधार पर नहीं किया जा सकता।

7.8 शब्दावली

विभावादि भरतमुनि के रस-सूत्र में वर्णित विभाव, अनुभाव, संचारी (व्यभिचारी) भाव।

विभाव - रस के कारण को विभाव कहते हैं। विभाव दो तरह के होते हैं - आलंबन विभाव, और उद्दीपन विभाव।

आलंबन विभाव - आलंबन विभाव के दो पक्ष होते हैं - आश्रय और आलंबन।

आश्रय - जिसके हृदय में भाव जाग्रत होता है यानी जिसे रसानुभूति होती है, उसे आश्रय कहते हैं।

आलंबन - वह पात्र या स्थिति जिसे देखकर आश्रय के मन में भाव जाग्रत होता है उसे आलंबन कहते हैं। उदाहरण के लिए, शकुंतला को देखकर दुष्यंत के मन में शकुंतला के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है। यहाँ दुष्यंत आश्रय है और शकुंतला आलंबन।

उद्दीपन विभाव - उद्दीपन विभाव के दो पक्ष होते हैं - बाह्य वातावरण और आलंबन की बाह्य चेष्टाएँ।

अनुभाव - आश्रय के शारीरिक विकारों को अनुभाव कहते हैं जैसे क्रोध का भाव उत्पन्न होने पर आश्रय की आँखें लाल हो जाना, ओंठ और नथुने फड़कने लगना, जिस व्यक्ति पर क्रोध आ रहा हो उसे मारने के लिए हाथ उठाना। अनुभाव दो तरह के होते हैं - यत्नज और अयत्नज। मारने को हाथ उठाना यत्नज अनुभाव है और आँखें लाल हो जाना अयत्नज अनुभाव। अनुभावों को सात्विक भाव भी कहा जाता है। अनुभावों की संख्या आठ होती है।

संचारी/व्यभिचारी भाव - जो भाव क्षण-क्षण में संचरित होकर स्थायी भाव का पोषण करते हैं, उन्हें संचारी भाव कहा जाता है। पहले इनकी संख्या 33 मानी जाती थी, लेकिन आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर अब इनकी संख्या अनगिनत मानी जाती है।

स्थायी भाव - जिन भावों को विरोधी अथवा अविरोधी भाव कभी नष्ट नहीं कर पाते उन्हें स्थायी भाव कहते हैं। प्राचीन आचार्यों ने इनकी संख्या नौ मानी है (नौ रसों के नौ स्थायी भाव)। लेकिन अब इनकी संख्या में भी वृद्धि हुई है क्योंकि दसवें, ग्यारहवें रसों की कल्पना की गई है।

सौंदर्य चिंतन - कलाकृति अथवा रचना के अनुभूति और अभिव्यक्ति पक्ष को समझने और परखने की प्रक्रिया।

अभिमान - रस के संदर्भ में अभिमान का अर्थ है अभिनय करते समय नट या नटी का अपने आपको राम-सीता आदि समझ लेना। अतः अभिमान में अनुकार्य से नट का आंतरिक तादात्म्य रहता है।

आरोप - नट का अपने में रामादि का आरोप अर्थात् अपने व्यक्तित्व पर उन पात्रों के व्यक्तित्व का आरोप जिनका वह अभिनय कर रहा है। आरोप में नट का अनुकार्य से तादात्म्य बहुत कुछ बाह्य ही होता है।

निर्वैव्यक्तिक हो जाना - रस के संदर्भ में इसका अर्थ है - सामाजिक या प्रेक्षक में सत्व का उद्रेक होने से अपने-पराए का भेद समाप्त हो जाना अथवा इस भेद से मुक्त हो जाना। इस स्थिति को भाव का वैयक्तिक न रहकर निर्वैयक्तिक हो जाना भी कहा जाता है। वैयक्तिक भाव का निर्वैयक्तिक हो जाना लोकदशा को प्राप्त हो जाना है।

अनुकार्य - वे पात्र जिनका नाटक के माध्यम से अनुकरण किया जा रहा है अर्थात राम-सीता या दुष्यंत-शकुंतला आदि।

उत्पाद्य-उत्पादक संबंध - रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया में विभाव से स्थायी भाव का संबंध उत्पाद्य-उत्पादक संबंध कहा गया है।

पोष्य-पोषक संबंध - संचारी भाव स्थायी भाव की पुष्टि करते हैं। अतः रस प्रक्रिया में स्थायी तथा संचारी भाव का संबंध पोष्य-पोषक संबंध कहलाता है।

भावकत्व	-	अपने पराए की भेदबुद्धि से मुक्त हो जाना।
भावन	-	भावकत्व व्यापार का साधारणीकरण। स्थायीभाव के भावन का अर्थ है - भावकत्व व्यापार के फलस्वरूप भाव की कल्पनात्मक प्रतीति।
व्यष्टि	-	वैयक्तिक संसर्ग या व्यक्तिगत संबंध।
समष्टि	-	भाव का वैयक्तिक संसर्ग से मुक्त होकर सबका हो जाना।
व्यंग्य-व्यंजक संबंध	-	विभावादि व्यंजक है और रस रूप में परिणत स्थाग्री भाव व्यंग्य है। अतः अभिनवगुप्त ने निष्पत्ति का अर्थ किया अभिव्यक्ति और संयोग का अर्थ किया 'व्यंग्य-व्यंजक संबंध'। व्यंग्य का आधार है व्यंजनाशक्ति।
निरानंद	-	आनंदरहित।

7.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. 'रस' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए रस चिंतन की परंपरा का उल्लेख कीजिए।
2. रस की परिभाषा दीजिए।
3. रस का स्वरूप स्पष्ट करते हुए करूण रस के आस्वाद पर विचार कीजिए।
4. भट्ट लोल्लट के रस निष्पत्ति संबंधी विचारों पर प्रकाश डालिए।
5. रस निष्पत्ति में भट्टनायक के मत का महत्व निर्धारित कीजिए।
6. अभिनवगुप्त के रस-निष्पत्ति संबंधी चिंतन पर विचार कीजिए।
7. रस सिद्धांत की शक्ति और सीमाओं का उल्लेख करते हुए बताइए कि आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन के लिए यह किस हद तक उपयुक्त प्रतिमान सिद्ध हो सकता है।

इकाई 8 साधारणीकरण

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 भट्टनायक द्वारा 'साधारणीकरण' शब्द का प्रयोग
8.3 साधारणीकरण से भट्टनायक का तात्पर्य
8.4 'भावकत्व व्यापार के स्वरूप' पर विचार
8.5 संस्कृत-आचार्यों द्वारा साधारणीकरण की व्याख्या और विवेचन
  8.5.1 आचार्य अभिनवगुप्त
  8.5.2 आचार्य विश्वनाथ
  8.5.3 पण्डितराज जगन्नाथ
8.6 हिंदी विद्वानों द्वारा साधारणीकरण संबंधी चिन्तन और विवेचन
  8.6.1 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
  8.6.2 बाबू गुलाबराय
  8.6.3 डॉ.नगेन्द्र
8.7 रस चिंतन पर नए संदर्भों में विचार और साधारणीकरण
  8.7.1 हिंदी के प्रगतिवादी आलोचकों का मत
  8.7.2 नए साहित्य में साधारणीकरण पर विचार
8.8 पश्चिमी विद्वानों के काव्यानुभूति की प्रक्रिया संबंधी सिद्धांत
8.9 काव्यात्मक भाषा और साधारणीकरण
8.10 पश्चिम के काव्यानुभूति की प्रक्रिया संबंधी सिद्धांतों से साधारणीकरण की तुलना
8.11 समाहार तथा निष्कर्ष
8.12 शब्दावली
8.13 अभ्यास के लिए प्रश्न

8.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप बता सकेंगे कि

- साधारणीकरण से क्या तात्पर्य है
- भारतीय आचार्यों ने साधारणीकरण की व्याख्या किस प्रकार की है
- काव्यानुभूति की प्रक्रिया संबंधी पश्चिम के सिद्धांत कौन से हैं
- पश्चिम के सिद्धांतों की तुलना में साधारणीकरण का क्या महत्व है
- आधुनिक युग में रस-चिंतन दृष्टि में बदलाव के बावजूद साधारणीकरण क्यों महत्वपूर्ण है।

8.1 प्रस्तावना

इस खंड की पिछली इकाई में आपने रस-सिद्धांत की जानकारी प्राप्त की। रस क्या है, उसका स्वरूप कैसा है, उसकी निष्पत्ति किस प्रकार होती है आदि के विषय में आप पढ़ चुके हैं। आपने ध्यान दिया होगा कि रस-निष्पत्ति काव्य के आस्वाद की प्रक्रिया है। यह आस्वाद किस प्रकार का होता है इस प्रश्न पर आचार्यों ने विस्तार से विचार किया है। कवि किस प्रकार रचना में रस सृष्टि करता है और पाठक किस तरह कवि द्वारा सृजित रस का आस्वादन करता है इस बात को सूत्र-व्याख्या-उदाहरणों द्वारा समझाया गया है। साधारणीकरण इस आस्वाद प्रक्रिया का महत्वपूर्ण अंग है। साधारणीकरण किस तरह होता है इसपर गंभीर विचार-विवेचन हुआ है। युग संदर्भ बदलने के साथ-साथ काव्य के आस्वाद के स्वरूप के प्रति दृष्टिकोण बदला है। किंतु यह मानने के बावजूद कि आज की कविता हमें रिझाती नहीं सताती है, साधारणीकरण व्यापार का महत्व खत्म नहीं हुआ। बल्कि यहाँ तक माना गया कि काव्यानुभूति की प्रक्रिया का कोई भी पश्चिमी सिद्धांत भारतीय साधारणीकरण सिद्धांत के समकक्ष पूर्ण एवं समग्र नहीं है। इस दृष्टि से साधारणीकरण का महत्व एवं आवश्यकता आज भी विद्यमान है। प्रस्तुत इकाई में आप साधारणीकरण के विषय में विस्तार से पढ़ेंगे। साधारणीकरण की चर्चा कब और कहाँ शुरू हुई और साधारणीकरण कैसे होता है यह तो आप इस इकाई में पढ़ेंगे ही साथ ही काव्यानुभूति की प्रक्रिया संबंधी पश्चिमी सिद्धांतों की जानकारी भी प्राप्त करेंगे। इन सिद्धांतों से साधारणीकरण की तलना भी प्रस्तत इकाई में की जाएगी।

8.2 भट्टनायक द्वारा 'साधारणीकरण' शब्द का प्रयोग

रस निष्पत्ति के प्रसंग में 'साधारणीकरण' शब्द का विशिष्ट महत्व है। भारतीय रस-चिन्तन के अंतर्गत साधारणीकरण पर विचार करने की लंबी परम्परा विद्यमान रही है। 'साधारणीकरण' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम भट्टनायक (10वीं शताब्दी) ने रस-निष्पत्ति संबंधी भरत के प्रख्यात् सूत्र - 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति' - की व्याख्या के भीतर किया है। भट्टनायक ने भरत-सूत्र के व्याख्याकार भट्टलोल्लट (उत्पत्तिवाद या आरोपवाद), शंकुक (अनुमितिवाद) के व्याख्यागत दोषों का परिहार करने के लिए अपने सिद्धांत - भोगवाद या भुक्तिवाद - के अंतर्गत साधारणीकरण की प्रतिष्ठा की। काव्य में वर्णित विशिष्ट पात्रों के 'भाव', 'सहृदय साधारण' या सर्वसाधारण के आस्वाद के विषय किस प्रकार हो जाते हैं? काव्यानुभूति के आस्वाद के इस मौलिक प्रश्न पर पर्याप्त ध्यान केंद्रित किया गया है। इसी प्रश्न का समाधान है - साधारणीकरण सिद्धांत। व्यापक अर्थों में 'साधारणीकरण' को 'काव्यानुभूति की प्रक्रिया' कहा जा सकता है। इस प्रक्रिया का गहरा संबंध काव्य-सम्प्रेषण व्यापार से है। आज लगभग सभी विद्वान इस बात से सहमत हैं कि साधारणीकरण सिद्धांत के बीज भरत मुनि (तीसरी-चौथी शताब्दी) के 'नाट्यशास्त्र' में विद्यमान है। भरतमुनि का यह कथन 'सामान्य गुणयोगेने रसा निष्पद्यन्ते' अर्थात् जब पाठक भावों को सामान्य रूप से 'मैं' और 'पर' की भावना से मुक्त होकर ग्रहण करते हैं तब रस की निष्पत्ति होती है। परंतु साधारणीकरण-सिद्धांत का निश्चित उल्लेख भट्टनायक के मत में ही मिलता है। भट्टनायक का ग्रंथ 'हृदय दर्पण' आज उपलब्ध नहीं है। किंतु आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने ग्रंथ 'अभिनवभारती' में भट्टनायक का मत उद्धृत किया है। उसी के आधार पर भट्टनायक के मत की जानकारी आज उपलब्ध है। अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के साधारणीकरण सिद्धांत को उद्धृत करते हुए उसका अपने ढंग से संशोधन किया है।

भट्टनायक के अनुसार काव्य में तीन व्यापार होते हैं - अभिधा, भावकत्व एवं भोगकत्व या भोजकत्व।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इन तीन व्यापारों का अर्थ क्या है।

जहाँ तक अभिधा-व्यापार का संबंध हैं, वह तो शब्द को आधार बनाकर चलने वाले सभी शास्त्रों में मिलता है, किंतु शेष दो व्यापार काव्य-शब्दों की अपनी विशेषता है। इन्हीं दो विशिष्ट व्यापारों के कारण काव्य अन्य शब्दधारी शास्त्रों से विशिष्ट एवं विलक्षण होता है। काव्य में अभिधा व्यापार वाच्यार्थ को उपस्थित करने की क्षमता रखता है। किंतु वास्तविक कार्य भावकत्व एवं भोजकत्व व्यापारों के द्वारा ही सम्पन्न होता है। भावकत्व व्यापार विशिष्ट विभावादिकों को साधारणीकृत रूप में उपस्थित करने के साथ सामाजिक या सहृदय की 'निज-मोह-संकटता का निवारण' करते हुए रसों को भावित कर देता है तथा भोजकत्व व्यापार के द्वारा उन भावित रसों का भोग होता है। इस प्रकार, अभिधा व्यापार वाच्यार्थ-विषयक है, भावकत्व रसादि विषयक और भोजकत्व सहृदय या सामाजिक विषयक। इन्हीं तीन व्यापारात्मक अंशों के आधार पर काव्य के शब्द अन्य शास्त्रादिक के शब्दों से विशिष्ट एवं विलक्षण हो जाते हैं। भट्टनायक का सिद्धांत कथन अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में इन शब्दों में निरूपित किया है -

> **'काव्ये दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन नाटये चतुर्विधाभिनयरूपेण, निविड निज मोह संकटता निवारण कारिणाविभावादि साधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयांशेन भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानो रसः।'**

8.3 साधारणीकरण से भट्टनायक का तात्पर्य

भट्टनायक के इस कथन का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं -

1. साधारणीकरण विभावादि व्यापार का होता है।
2. भावकत्व-व्यापार का प्राण है - साधारणीकरण।
3. भावकत्व व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत हो जाता है।
4. साधारणीकरण रसास्वाद से पूर्व की प्रक्रिया है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो रस के विभिन्न अवयवों को अपने-अपने वैशिष्ट्य से मुक्त कर आस्वाद्य रूप में प्रस्तुत कर देती है।
5. अभिधा व्यापार की सीमा सामान्य पद-पदार्थ तक ही है। इससे आगे के कार्य भावकत्व तथा भोजकत्व व्यापार के द्वारा होते हैं। कवि पूरे प्रयास से भाषा को दोषों से बचाता है तथा गुणों-

अलंकारों से अलंकृत करता है। इससे काव्य-भाषा में एक विशेष प्रकार का अर्थ-चमत्कार आ जाता है। हाँ, दृश्य-काव्य में यह क्षमता अभिनय के द्वारा आती है। काव्यानुभूति के लिए भाषा का भाव-प्रवण कलात्मक प्रयोग एक विशेष पृष्ठभूमि या मानसिक परिवेश तैयार करता है।

6. विभावादि के साधारणीकरण का सहृदय की चेतना पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इसे ही भट्टनायक 'निज-मोह-संकटता-निवारण' कहते हैं। 'निज-मोह-संकटता-निवारण' अर्थात् अपने-पराये के मोहपाश का नाश। भावकत्व-व्यापार को ही निज-मोह-संकटता-निवारणकारी कहा गया है।

7. भावकत्व व्यापार तथा साधारणीकरण एकदम पर्यायवाची नहीं हैं। साधारणीकरण स्वयं मे भावकत्व व्यापार का एक अंग है। हाँ, अपने महत्व के कारण उसे भावकत्व की आत्मा घोषित किया गया है।

8.4 'भावकत्व व्यापार के स्वरूप' पर विचार

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने साधारणीकरण और भावकत्व के संबंधों पर विचार करने के लिए 'भावकत्व व्यापार के स्वरूप' पर ध्यान केंद्रित किया है। इस ध्यान केंद्रण का प्रमुख कारण है कि विभिन्न शास्त्रों में 'व्यापार' शब्द का प्रयोग होता है किंतु इसका प्रधान क्षेत्र न्यायशास्त्र है। काव्यशास्त्र में शब्द-शक्ति को 'व्यापार' या 'वृत्ति' का नाम दिया गया है। व्यापार अथवा शब्द-शक्ति के द्वारा पद से पदार्थ का ज्ञान होता है। शब्द कारण है जैसे मिट्टी घड़े का कारण है। कुम्हार डंडे से चाक को घुमाता है तभी मिट्टी से घड़ा बनता है। इसी भाँति शब्द रूपी कारणों से एक विशेष व्यापार द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। शब्दों के व्यापार कई प्रकार के होते हैं किंतु आचार्यों ने अभिधा, व्यंजना, लक्षणा - इन तीन शब्द-शक्तियों को ही विशेष स्वीकृति प्रदान की है। इसके अतिरिक्ति, कभी-कभार तात्पर्य वृत्ति की भी चर्चा की है। तर्कभाषाकार केशव मिश्र ने कहा है, 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजन्य कोऽवान्तर व्यापारः। यथा कुठारजन्यः कुठारुदारुसंयोगः, कुठारजन्यछिदाजनकः।' ('तर्कभाषा', पूना सं. पृ. 6) व्यापार उसे कहते हैं जो अपने कारण से उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए हम कुल्हाड़े से लकड़ी चीरते हैं, कुठार तथा काष्ठ का इसमें संयोग होता है। यह एक व्यापार है - कुठार-दारु-संयोग व्यापार। हर तरह के व्यापार का एक फल होता है। कुठार-दारु-संयोग को अवान्तर व्यापार भी कहा गया है क्योंकि इस प्रधान व्यापार में अन्य बहुत से व्यापार शामिल रहते हैं। ठीक यही स्थिति भावकत्व तथा साधारणीकरण की होती है। भावकत्व एक अत्यंत व्यापक व्यापार है जिसमें कुछ अन्य व्यापारों के साथ साधारणीकरण भी शामिल है। भावकत्व काव्य-शब्दों का एक व्यापार है, काव्य शब्द-जन्य है तथा फलरूप में रस-भावन का जनक है। अतः साधारणीकरण भावकत्व व्यापार का एक महत्वपूर्ण अंग है।

सांख्यवादी भट्टनायक ने भावकत्व-व्यापार की महत्व-प्रतिष्ठा मीमांसा के आधार पर की। मीमांसा में 'भावना' का विशेष अर्थ है। मीमांसक 'क्रिया' को 'भावना' कहते हैं। इसी कारण इसे 'भावन-क्रिया' कहा जाता है। उदाहरणार्थ 'स्वर्ग का भोजयेन' अर्थात् स्वर्ग की कामना करने वाला भजन करे। किंतु मीमांसक कहेगा 'यज्ञ क्रिया से स्वर्ग भावित होता है।' यज्ञ-क्रिया 'भावना' है और साध्य है - स्वर्ग, जोकि मीमांसा की भाषा में 'भाव्य' है। 'भावना' पारिभाषिक शब्द है - साध्य की सिद्धि में अनुकूल व्यापार का नाम है - भावना। यह भावना दो प्रकार की है - शाब्दी तथा आर्थी। भावना के साध्य के विषय में तीन बातें आवश्यक हैं - (1) किं भावयेन् अर्थात् क्या सिद्ध करना है। (2) केन भावयेत् अर्थात् किन साधनों से करना है। (3) कथं भावयेन् अर्थात् किस प्रकार करना है। ध्यान देने की बात यह है कि भट्टनायक ने इसी परिपाटी का सहारा लेकर काव्य-शब्दों में भावकत्व-व्यापार का प्रतिपादन किया है। इस व्यापार के अनुसार ही काव्य 'भावक' है और रस 'भाव्य'।

अभिनवगुप्त के विचार

सामान्यतः अभिनवगुप्त को रस-प्रक्रिया में यह मीमांसा-प्रणाली मान्य नहीं है। अभिनवगुप्त का कहना है कि भावकत्व को व्यंजना-व्यापार से पृथक मानना अनावश्यक है। उन्होंने 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' शक्तियों को अस्वीकार करके भी साधारणीकरण को स्वीकार किया है। उनके अनुसार साधारणीकरण के दो स्तर हैं - एक स्तर पर विभावादि का व्यक्ति-विशिष्ट संबंध छूट जाता है और दूसरे स्तर पर सामाजिक का व्यक्तित्व बंधन नष्ट हो जाता है। अर्थात् विभावादि का साधारणीकरण होता है और साथ ही पाठक या सामाजिक की अनुभूति का साधारणीकरण होता है। शब्द और अर्थ की व्यंजना के सहारे ही रस-भाव का भोग या आस्वादन भावक को होता है। अतः काव्यानुभूति की प्रक्रिया में भावकत्व

व्यापार को पृथक मानना व्यर्थ है। यहाँ 'साधारणीकरण' शब्द के व्युत्पत्तिगत अर्थ पर ही विचार करें तो साधारणीकरण शब्द 'च्वि' प्रत्यय के योग से बनता है - साधारण + च्वि + करण। च्वि प्रत्यय 'अभूत तद्भाव' में होता है। अर्थात् जो वस्तु पहले जैसी नहीं थी उसका वैसा हो जाना। तब साधारणीकरण का अर्थ हुआ काव्य-निबद्ध विशिष्ट अनुभूति जिस प्रक्रिया के द्वारा सहृदय-समाज की अनुभूति व्यक्ति संबंधों से मुक्त होकर सामान्य या सामान्यीकरण के रूप में आ जाती है उसी को साधारणीकरण कहा जाता है। मूल अर्थ हुआ असाधारण का साधारण बन जाना। अतः साधारणीकरण के लिए आवश्यक है - पहले वस्तु की असाधारण स्थिति हो। जहाँ पहले से असाधारणता विद्यमान नहीं है वहाँ साधारणीकरण के लिए अवकाश ही कहाँ है। ऐसी स्थिति के कारण साधारणीकरण का अर्थ हुआ विशिष्ट काव्य-शब्दों के द्वारा जो विभावादि उपस्थित किए जाते हैं वे अभिधा व्यापार की सीमा में असाधारण होते हैं। सामाजिक या प्रमाता के मानस-पट पर उनका अर्थ ग्रहण विशेष रूप में ही होता है। विभावादि साधारणीकृत हो जाते हैं, का अर्थ है अपने-पराये के संबंधों से मुक्त - 'निज-मोह-संकटता निवारण' की भावभूमि को प्राप्त होना। यह साधारणीकरण व्यापार सामाजिक के वासना रूप में स्थित स्थायी भावों के आधार पर होता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने 'वासना' को स्वीकृति प्रदान की और स्थायी भाव का साधारणीकरण माना।

8.5 संस्कृत आचार्यों द्वारा साधारणीकरण की व्याख्या और विवेचन

आधुनिक समीक्षा में साधारणीकरण को लेकर बहुत से प्रश्न उठाए जाते हैं -

1. साधारणीकरण किसका होता है?
2. इस व्यापार की प्रक्रिया एवं स्वरूप क्या है?
3. काव्यास्वाद में साधारणीकरण की स्थिति एवं महत्व क्या है?

इन प्रश्नों को दृष्टि में रखने पर यह जिज्ञासा भी उठती है कि भट्टनायक को किस-किस का साधारणीकरण अभिप्रेत है। भट्टनायक विभावादि का साधारणीकरण मानते हैं। यहाँ सीधा प्रश्न उठता है कि अभिनवगुप्त तक ने साधारणीकरण के सिद्धांत-कथन में यह कहीं भी स्पष्ट नहीं किया कि विभावादि के अंतर्गत साधारणीकरण के लिए अमुक-अमुक वस्तुओं को लिया जा सकता है। उनकी वस्तुपक्षीय सामग्री को देखने से तो यही लगता है कि विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों का ही साधारणीकरण उन्हें अभिप्रेत है। इसका कारण है कि उनका पूरा रस-चिन्तन भरत के सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' के प्रसंग में ही आया है। भरत के मूल कथन में 'विभावादि' आने से भट्टनायक या अभिनवगुप्त को इसे अलग से स्पष्ट करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। भट्टनायक ने विषय-पक्ष (विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव) का साधारणीकरण से अभिप्रेत अर्थ लिया। विषयि-पक्ष अर्थात् प्रमाता या सामाजिक की सत्ता तथा स्थायी भावों के साधारणीकरण पर वे मौन ही रहे। केवल उन्होंने प्रमाता-चेतना (सामाजिक) के मोह संकटता निवारण की स्पष्ट बात कही है। भट्टनायक 'निविड निज मोह संकटता निवारण' को भावकत्व व्यापार की सीमा में देखते हैं पर सत्वोद्रेक को 'संविद् विश्रान्ति' के साथ रखकर भोजकत्व व्यापार के अंतर्गत देखते हैं। इसीलिए वे सामाजिक की सत्ता के साधारणीकरण की बात नहीं उठाते। भट्टनायक का ग्रंथ 'हृदय दर्पण' उपलब्ध न होने से भी उनकी बात को समझने में कठिनाई रही है। अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में उनके मत को 'हृदय दर्पण' से उद्धृत किया है। अभिनवगुप्त 'प्रत्यभिज्ञा-वृत्ति-विमर्शिनी' में 'यथाहः मीमांसकाग्रणोभट्टनायकः' से ज़ाहिर है कि वे उन्हें मीमांसक ही मानते हैं और मीमांसा की सीमाओं के भीतर ही भट्टनायक के मत का खण्डन करते हैं।

8.5.1 आचार्य अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत में संशोधन कर साधारणीकरण को अपने ही ढंग से प्रस्तुत किया - वाक्यार्थ के ज्ञान के उपरांत साधारणीकरण नामक व्यापार द्वारा सहृदय की कुछ इस प्रकार की मानसी एवं साक्षात्कारात्मिका प्रतीति होती है कि जिसके द्वारा काव्य अथवा नट आदि सामग्री (दृश्य काव्य में) में वर्णित देश, काल, प्रमाता आदि की विषय-सीमा नष्ट हो जाती है। अर्थात् ये नियामक कारणों के बंधनों से पूरी तरह मुक्त हो जाते हैं। वस्तुतः यही साधारणीकरण व्यापार है। उदाहरणार्थ - भयानक रस के निदर्शन 'ग्रीवाभंगाभिरामं.....तस्यां च यो मृगयोतकादिर्भाति तस्य विशेष रूपत्वा भावादिभत इति, त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यनलिर्गितम्।' में त्रस्त मृग, त्रासक (दुष्यंत) और भय स्थायी भाव, देशकाल आदि के बंधनों से मुक्त हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में सहृदय को जिस भयानक रस की प्रतीति होती है - वह उस भावना से भिन्न होती है कि 'मैं भीत हूँ' अथवा 'यह भीत है'

अथवा 'शत्रु-मित्र' अथवा 'उदासीन भीत है'। यह प्रतीति लौकिक सुख-दुख के ज्ञान से भिन्न या विलक्षण होती है। 'इसका अभिप्राय यह हुआ कि आश्रय और आलंबन का साधारणीकरण हो जाने से स्थायी भाव ही देशकाल के बंधन से मुक्त हो जाता है। इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं - इसीलिए 'मैं भीत हूँ', 'यह भीत है' या 'शत्रु ', 'मित्र' अथवा 'तटस्थ भीत है' इत्यादि सुख-दुःखकारी अन्य प्रत्ययों (ज्ञान) को नियमतः उत्पन्न करने के कारण विघ्न बहुल प्रतीतियों से भिन्न निर्विघ्न प्रतीति रूप में ग्राह्य (भय स्थायी भाव ही) भयानक रस बन जाता है।' अर्थात् काव्य में स्थायी भाव सभी प्रकार के व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त हो जाता है वे व्यक्ति-संसर्ग अपनी परिमिति के कारण दुःखादि के कारण होते हैं। अतः इनसे मुक्ति का अभिप्राय होता है - लौकिक सुख-दुःख आदि की चेतना से मुक्ति। यह साधारणत्व परिमित न होकर सर्वव्याप्त होता है - अनादि संस्कारों से चित्रित चित्त वाले समस्त सामाजिकों की एक-जैसी वासना (संस्कार) होने के कारण सभी को एक जैसी ही प्रतीति होती है। अतः अभिनवगुप्त के मतानुसार,

1. साधारणीकरण विभावादि का ही नहीं होता, स्थायी भाव का भी होता है। जिस प्रकार विभावादि स्थायी भाव के कारण होते हैं, उसी प्रकार विभावादि का साधारणीकरण भी स्थायी भाव के साधारणीकरण का कारण होता है।
2. स्थायी भाव के साधारणीकरण का अर्थ है - देशकाल के बंधन, व्यक्ति-संसर्ग आदि से मुक्ति। व्यक्ति चेतना से मुक्त हो जाने पर भाव की ऐन्द्रिय सुख-दुःख भावना भी नष्ट हो जाती है।
3. काव्यास्वाद की प्रक्रिया में भाव का साधारणीकरण वैयक्तिक न रहकर सामूहिक क्रिया है। यह एक सामाजिक की अनुभूति न होकर सामूहिक अनुभूति है।
4. साधारणीकरण का सार है - स्थायी भाव का साधारणीकरण।

अभिनवगुप्त की उपर्युक्त व्याख्या को **आचार्य मम्मट** के 'काव्य-प्रकाश' की टीका में इस प्रकार दिया गया है -

1. भावकत्व ही एक विशिष्ट अर्थ में साधारणीकरण है।
2. भावकत्व व्यापार के द्वारा ही विभावादि तथा स्थायी भाव का साधारणीकरण होता है।
3. साधारणीकरण का अभिप्राय है - व्यक्ति संसर्गों से मुक्त होकर विभावों का विशेष से सामान्य हो जाना (सीतादि विशेष पात्रों का कान्तात्व आदि सामान्य रूप में उपस्थित होना)।
4. स्थायी भाव और अनुभाव के साधारणीकरण का अभिप्राय है - अपने-पराये के व्यक्ति संबंधों से छूट जाना।

'काव्य-प्रकाश' के टीकाकार **गोविन्द ठक्कर** ने भट्टनायक के सिद्धांत-कथन का सार इस प्रकार दिया - 'भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभाद्यः स्थायी च साधारणीक्रियन्त्। साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादि सामान्येनोपस्थितिः। स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्धविशेषान-वच्छिन्नत्वेन।' अर्थात् भावकत्व का अभिप्राय है - साधारणीकरण। इस व्यापार के द्वारा विभावादि का और स्थायी भाव का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण का अर्थ है सीतादि विशेष पात्रों का कामिनी आदि सामान्य रूपों में उपस्थित होना। स्थायी भाव तथा अनुभाव के साधारणीकरण का अर्थ है - विशिष्ट संबंधों की भावना से छुटकारा या मुक्ति पा जाना। इस व्याख्या के अनुसार विभाव (आश्रय-आलम्बन-उद्दीपन) अनुभाव, संचारी भाव, स्थायी भाव सभी का साधारणीकरण होता है। इस स्थिति को हम एक उदाहरण से समझ सकते हैं -

'कौन तुम? संसृति-जलनिधितीर
तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक?

मधुर विश्रान्त और एकान्त
जगत का सुलझा हुआ रहस्य,
एक करुणामय सुंदर मौन
और चंचल मन का आलस्य।'

सुना यह मनु ने मधु गुंजार
मधुकरी का सा जब सानंद,

किए मुख नीचा कमल समान
प्रथम कवि का ज्यों सुंदर छंद

एक झटका सा लगा सहर्ष
निरखने लगे लुटे से, कौन,
गा रहा यह सुंदर संगीत?
कुतुहल रह न सका फिर मौन।

और देखा वह सुंदर दृश्य
नयन का इन्द्रजाल अभिराम
कुसुम वैभव में लता समान
चन्द्रिका से लिपटा घनश्याम।

(कामायनी, श्रद्धा सर्ग)

यहाँ आरंभ की आठ काव्य-पंक्तियों में श्रद्धा आश्रय है और मनु आलंबन है। एकान्त निर्जन में चुपचाप व्यक्तित्व का परिवेश उद्दीपन है। श्रद्धा के मनोभाव अनुभाव हैं और हर्ष-मति-वितर्क आदि संचारी हैं। इन आठ काव्य-पंक्तियों के बाद स्थिति बदल जाती है और हम पाते हैं कि अब सहसा सौंदर्य-चकित मनु आश्रय है, श्रद्धा आलंबन है, श्रद्धा का रूप-वैभव उद्दीपन है। मनु के 'एक झटका सा लगा' आदि अनुभाव हैं। कामिनी के रूप-लावण्य की दीप्ति में रति स्थायी है और हर्ष-पुलक, आश्चर्य आदि संचारी भाव है। उपर्युक्त व्याख्या के प्रकाश में काव्यानुभूति की प्रक्रिया या रसास्वादन की प्रक्रिया में इन सभी का साधारणीकरण हो जाता है। आश्रय मनु के साधारणीकरण का अर्थ है कि वे मनु न रहकर सौंदर्य मुग्ध (रति-मुग्ध) सामान्य पुरुष मात्र रह जाते हैं, उनके देश और काल तथा उनके निजी वैशिष्ट्य लगभग तिरोहित हो जाते हैं और नारी या कामिनी के सौंदर्य से अभिभूत सामान्य मानव का मन उभर कर सामने आ जाता है। आलंबन श्रद्धा के साधारणीकरण का अभिप्राय भी बहुत कुछ वैसा ही है अर्थात् वह एक कामिनी मात्र रह जाती है। अनुभाव (आश्रय के शारीरिक विकार) के साधारणीकरण से आशय यह है कि मनु की चेष्टाएँ मनु से सम्बद्ध न रहकर सामान्य सौंदर्य-मुग्ध मानव की चेष्टाएँ रह जाती हैं। इसी प्रकार, स्थायी भाव रति आदि और चकित, पुलकित आदि संचारी भाव भी एक ओर मनु श्रद्धा के तथा दूसरी ओर सहृदय तथा उसके आलंबन से सम्बद्ध नहीं रह जाते - वे वैयक्तिकता को खोकर निर्वैयक्तिक हो जाते हैं। यह निर्वैयक्तिकता व्यक्तिगत संबंधों से मुक्ति है। इस प्रसंग में जो रति स्थायी भाव है वह न तो मनु की श्रद्धा के प्रति रति है, न सहृदय की श्रद्धा के प्रति और न सहृदय की अपनी प्रेमिका-विशेष के प्रति - यह तो नर-नारी का निर्वैयक्तिक-मुक्त रति-भाव है जिसमें 'निविड़ निज मोह संकटता निवारण' की स्थिति आ चुकी है अर्थात् अपने-पराये ही स्थायी भाव है परंतु साधारणीकृत स्थिति के कारण स्व-पर की चेतना से मुक्त हो गया है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि रस के अवयवों में जो मूर्त हैं वे 'विशेष' से 'सामान्य' बन जाते हैं और जो अमूर्त भाव रूप हैं वे व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त हो जाते हैं - विभावों की भी देश और काल के बंधन से मुक्ति होती है और भाव वैयक्तिक चेतना से मुक्त होकर निर्वैयक्तिकता को प्राप्त हो जाते हैं।

साधारणीकरण की महत्व-प्रतिष्ठा करते समय भट्टनायक के सामने कुछ नैतिकता की समस्याएँ थीं, कुछ जीवन-जगत के यथार्थ की। उन्होंने 'सन्निवेश औचित्य' और 'सन्निवेश लालित्य' आदि विभावादि का औचित्य आवश्यक माना। राम की आलंबन सीता 'सहृदय' की विभावादि कैसे बन जाती है? देवता-महापुरुष आदि के समुद्र लंघनादि जैसे कार्य उसके विभावों का कार्य कैसे करते हैं? संक्षेप में, इस तरह की समस्याओं को सुलझाने के लिए भट्टनायक ने साधारणीकरण की अवधारणा प्रस्तुत की। औचित्य के साथ, साधारणीकरण का घनिष्ठ संबंध जोड़ते हुए भी भट्टनायक साधारणीकरण की सीमाओं का सही-सही निर्देश न कर सके। प्रश्न उठता है कि सीता के प्रति सामाजिक नैतिक स्तर पर छूट कैसे ले सकता है? भट्टनायक का उत्तर है कि भावकत्व-व्यापार से इन विघ्नों को दूर किया जा सकता है।

8.5.2 आचार्य विश्वनाथ

संस्कृत के परवर्ती सभी शास्त्रकार प्रायः भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त के साधारणीकरण सिद्धांत की पुष्टि करते रहे। केवल आचार्य विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ ने चिन्तन के कुछ मौलिक संकेत दिए। विश्वनाथ (14वीं शताब्दी) ने दो भिन्न स्थापनाओं का संकेत दिया। विश्वनाथ के अनुसार पाठक या प्रमाता का आश्रय के साथ अभेद संबंध स्थापित हो जाता है। अर्थात् साधारणीकृत स्थिति में रत्यादि स्थायी भाव का उसी रूप में अनुभव होने लगता है और इस रसानुभूति के समय 'परस्य न परस्येति

ममेति न ममेतिच' (यह दूसरे का है, यह दूसरे का नहीं है यह मेरा है, यह मेरा नहीं है) इस प्रकार का भेद का नष्ट हो जाता है।

1. विभावादि के **विभावन-व्यापार** के कारण सहृदय या प्रमाता आश्रय से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस प्रकार, सामान्य-जन देव-महापुरुष आदि के कार्यों तथा अनुभूतियों का आस्वादन कर सकता है। देवताओं-महापुरुषों से तादात्म्य साधारणीकरण के परिणामस्वरूप घटित होता है।

2. काव्यास्वाद के समय काव्य के विभावादि का 'मेरे हैं अथवा मेरे नहीं हैं दूसरे के हैं अथवा दूसरे के नहीं हैं' इस संबंध भावना का परिहार हो जाता है। उन्होंने कहा कि -

. परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च
तदास्वादे विभावादिः परिच्छेदो न विद्यते। (साहित्यदर्पण, 3-13)

8.5.3 पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ (17-18वीं शताब्दी ई.) ने नव्य-न्याय दर्शन के प्रकाश में आश्रय के साथ तादात्म्य या अभेद को स्वीकार तो कर लिया किंतु साधारणीकरण व्यापार के स्थान पर 'दोष-दर्शन' की स्थापना कर डाली।'दोष-दर्शन' की स्थापना का अर्थ है - पाठक को व्यंजना वृत्ति से आलंबन विषयक रति का ज्ञान। इसके बाद सहृदयता के कारण पाठक के मन में एक दोष-भावना जाग्रत होती है जिससे उसकी आत्मा कल्पित विभावादि से आच्छादित हो जाती है और उसमें सीपी के टुकड़े में चाँदी की प्रतीति सदृश इस दोष के कारण अनिर्वचनीय सत्-रूप रति आदि चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन्हीं चित्तवृत्तियों के आत्म-चैतन्य द्वारा प्रकाशित होने को रसास्वाद कहते हैं। इस 'दोष-दर्शन' की कल्पना के आधार पर ही वे आश्रय से तादात्म्य की स्वीकृति दे सके। उनका कथन है कि

'काव्ये नाट्ये च, कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु, व्यंजनव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयतोल्लसितस्य भावना विशेष रूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पित दुष्यन्तत्वावच्छादितेस्वात्य न्य ज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाश कल इव रजत खडः समुत्यद्यमनोऽनिर्वनीयः साक्षिभास्य शकुन्तलादि विषयक रत्यादि रेव रसः।'

(हिंदी रसगंगाधर, प.आ., पृ.101)

अर्थात् सर्वप्रथम तो हमें काव्य और नाटक में कवि तथा नट द्वारा प्रस्तुत विभावादि का ज्ञान होता है। तत्पश्चात् व्यंजना-व्यापार के द्वारा यह प्रतीति होती है कि दुष्यन्त शकुन्तला के प्रति अनुरक्त है। इसके उपरान्त सहृदयता के कारण हमारे चित्त में एक प्रकार की भावना उत्पन्न हो जाती है। यह भावना एक ऐसा दोष है जिससे हमारी आत्मा कल्पित दुष्यन्तादि से आच्छादित हो जाती है अर्थात् उस समय भ्रान्तिवश हम अपने को ही दुष्यन्त समझने लगते हैं और जब हम अपने को दुष्यन्त समझने लगते हैं तब हमें अपने को शकुन्तला का प्रेमी समझने में कोई बाधा नहीं रह जाती। जैसे दूरत्व आदि दोषों के कारण जब सीपी के टुकड़े अज्ञान से ढक जाते हैं। उन्हें हम वास्तविक रूप में नहीं समझ सकते तब उन टुकड़ों में चमत्कार भ्रान्ति दोष से या चाक चिक्य दोष से चाँदी के टुकड़े उत्पन्न हो जाते हैं। आशय यह कि हम सीपी के टुकड़ों को ही चाँदी के टुकड़े समझने लग जाते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ का विचार है कि प्राचीनों द्वारा कथित साधारणीकरण व्यापारदोष की स्वीकृति के बिना असंभव है क्योंकि काव्य में विशेष व्यक्तियों के प्रतिपादक शब्द सामान्य के बोधक कैसे हो सकते हैं? प्रो.निर्मला जैन ने 'रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र' में पण्डितराज के इस विचार-कथन पर एक महत्वपूर्ण व्याख्यात्मक टिप्पणी की है - 'पण्डितराज ने शब्द-भेद से आश्रय के साथ तादात्म्य और समानुभूति की ही स्वीकृति की है। साधारणीकरण व्यापार की अस्वीकृति और भावना-दोष की परिकल्पना के मूल में उनकी दार्शनिक प्रतिबद्धता ही सक्रिय रही है। वह शब्द-भेद है, मतभेद नहीं।' (पृ.173) सार-संक्षेप यह कि सामाजिक किसी से रति नहीं करता, केवल सामान्यीकरण या साधारणीकरण के रूप में 'रति' का अनुभव मात्र करता है।

8.6 हिंदी विद्वानों द्वारा साधारणीकरण संबंधी चिन्तन और विवेचन

संस्कृत काव्यशास्त्र में पण्डितराज के बाद गंभीर शास्त्रीय चिन्तन और विवेचन का युग ही समाप्त हो गया। हिंदी के भक्त और रीति के कवि प्रायः सरलीकरण के शिकार हो गए। ध्वनि-रस-साधारणीकरण जैसे गंभीर विषयों की चर्चा की न तो उनमें सामर्थ्य थी न उनकी प्रवृत्ति। ऐसी स्थिति के कारण लगभग तीन शताब्दियों तक साधारणीकरण की चर्चा बंद रही।

8.6.1 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आधुनिक काल में हिंदी-आलोचना के प्रथम आधुनिक आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण सिद्धांत पर गंभीरता से विचार किया और इस सिद्धांत को पुनरुज्जीवित किया। आ.शुक्ल ने अपने प्रसिद्ध लेख 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' में साधारणीकरण सिद्धांत पर मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया। यह चिन्तन इतना मौलिक है कि काव्यशास्त्र की शास्त्रबद्ध जड़ता से मुक्त होकर नवीन दृष्टि प्रदान करता है। आचार्य शुक्ल ने वर्तमान की चुनौतियों का सामना करने के लिए इस सिद्धांत का पुनर्नवा रूप 'लोकधर्म सिद्धांत' के पोषण एवं समर्थन के लिए प्रस्तुत किया। हालाँकि उनके चिन्तन में विश्वनाथ के मत की अनुगूँज मिलती है, लेकिन व्याख्यान-विश्लेषण उनका मौलिक है। साधारणीकरण सिद्धांत से संबंधित आ. शुक्ल की स्थापनाएँ निम्नलिखित हैं -

1. किसी काव्य का श्रोता या पाठक जिन विषयों को मन में लाकर रति, करुणा, क्रोध, उत्साह इत्यादि भावों तथा सौंदर्य, रहस्य-गांभीर्य आदि भावनाओं का अनुभव करता है, वे अकेले उसी के हृदय से संबंध रखने वाले नहीं होते, मनुष्य मात्र के हृदय में विद्यमान भावनाओं की भावनात्मक सत्ता (मनुष्य मात्र के हृदय में विद्यमान भावनाओं) पर प्रभाव डालने वाले होते हैं।

2. जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलंबन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है।

3. सच्चा कवि वही होता है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।

4. जब तक रस के वर्णन में आलंबन का चित्रण इस रूप में न होगा कि वह मनुष्य मात्र के क्रोध का पात्र हो सके तब तक वह वर्णन भाव-प्रदर्शन मात्र रहेगा, उसका भाव और विभाव पक्ष या तो शून्य अथवा अशक्त होगा। पर भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामंजस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति हो नहीं सकती।

5. काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं, वह व्यक्ति सामने लाता है 'जाति' नहीं।xxx बिंब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।

6. साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलंबन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलंबन हो जाती है।

7. इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलंबनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की ही रहती है - जिसके साक्षात्कार से सब पाठकों या श्रोताओं के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा-बहुत होता है।xxx विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं' - इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलंबन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है।' (चिन्तामणि, भाग-1, पृ.227-230)

8. साधारणीकरण में आलंबन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण किया गया है, वह तभी चरितार्थ होता है।' (रस-मीमांसा, पृ.99)

9. 'लोक-हृदय की यह सामान्य अंतर्भूमि परखकर हमारे यहाँ 'साधारणीरण-सिद्धांत' की प्रतिष्ठा की गई है। वह सामान्य अंतर्भूमि कल्पित या कृत्रिम नहीं है।' (चिन्तामणि, भाग-1, पृ.237)

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि आ.शुक्ल ने आचार्य विश्वनाथ के मत का पल्ला पकड़ा है। इसीलिए वे आश्रय के साथ तादात्म्य पर बल देते हैं और आलंबनत्व धर्म का साधारणीकरण स्वीकार करते हैं। आ. शुक्ल के मत से 'साधारणीकरण में आलंबन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में होनी चाहिए' अर्थात् कवि की अपनी व्यक्ति-चेतना का सामान्य भावभूमि ग्रहण करना या साधारणीकृत होना आवश्यक है। उन्होंने कवि, काव्य और सहृदय की त्रयी में नया सूत्र जोड़ दिया - कवि-भावना के साधारणीकरण की स्वीकृति'। आ. शुक्ल के इसी विचार को बाद में डॉ.नगेन्द्र ने पुनर्प्रतिष्ठित किया।

आ.शुक्ल का मत भारतीय काव्यशास्त्र के स्वीकृति सिद्धांत से थोड़ा भिन्न है। इसलिए कई विद्वानों ने उनके मत की आलोचना की है। **रामदहिन मिश्र** ने 'काव्य दर्पण' में विभावादि के साधारणीकरण को

केवल 'आलंबनत्व धर्म' तक सीमित किए जाने पर आपत्ति की है और कहा है कि रस की कोटियों का विभाजन रस की प्रकृति के विपरीत है। अतः साधारणीकरण और तादात्मीकरण का एक ही अर्थ में प्रयोग भ्रामक है। **आ. केशव प्रसाद मिश्र** ने आ. शुक्ल के मत को 'भ्रम' की संज्ञा देकर कहा - 'साधारणीकरण से यहाँ यह अर्थ लिया गया है कि विभाव, अनुभाव आदि को साधारण रूप देकर सामने लाया जाए। विभाव, अनुभाव आदि का साधारण अथवा लोक-सामान्य होना दो अर्थों में माना जा सकता है। एक तो स्वरूपतः सामान्य होना और दूसरे परिणाम या उद्देश्य में सामान्य होना। स्वरूपतः सामान्य होने का आग्रह करना ठीक न होगा, क्योंकि उस अवस्था में विभाव, अनुभाव आदि सीमित और श्रृंखलाबद्ध हो जाएँगे और काव्य की व्यापकता नष्ट हो जाएगी। xxx किंतु हम आचार्य अभिनवगुप्त का मत मानते हैं। साधारणीकरण तो कवि अथवा भावक की चित्त-वृत्ति से संबंध रखता है। चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।' ('साहित्यालोचन', डॉ. श्यामसुंदर दास से उद्धृत) आ.केशव प्रसाद मिश्र के मत पर **डॉ.नगेन्द्र** ने कहा है कि 'वे अभिनवगुप्त के अनुसार साधारणीकरण से अभिप्राय चित्तवृत्तियों के साधारणीकरण का ही मानते हैं : सहृदय का चित्त जब एकतान हो जाता है तो उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है। विभाव का साधारणीकरण एकांगी है - भाव का साधारणीकरण ही वास्तविक एवं पूर्ण है।' (रस सिद्धांत, पृ.204) **आचार्य केशव प्रसाद मिश्र** ने साधारणीकरण को 'योग की मधुमती भूमिका' घोषित किया है।

8.6.2 बाबू गुलाबराय

बाबू गुलाबराय ने 'सिद्धांत और अध्ययन' में आलंबन के विषयगत अस्तित्व पर बल देकर कहा है कि 'जनता के मन में भी परम्परागत संस्कारों से एक सामान्य भावना बनी रहती है, वही आलंबन का विषयगत अस्तित्व है। जो बात सबके मन में रहती हो वह मानसिक रहती हुई विषयनिष्ठता धारण कर लेती है।' (पृ. 213) निष्कर्ष यह कि सहृदय का तादात्म्य काव्य-निबद्ध कवि की अनुभूति से होता है। 'रामचरितमानस', 'साकेत', और 'राम की शक्ति पूजा' की काव्य-संवेदना की अनुभूति एक-सी नहीं - उसमें कवि-अनुभूति की भिन्नता का अनुभव रहता है।

8.6.3 डॉ.नगेन्द्र

साधारणीकरण के प्रश्न पर डॉ.नगेन्द्र ने सभी कोणों से विचार किया है। उनके विचारों का सार 'रीति-काव्य की भूमिका' के अनुसार इस प्रकार है -

1. साधारणीकरण का अर्थ है काव्य के भावन द्वारा पाठक या श्रोता का भाव की 'सामान्य' भूमि पर पहुँच जाना - दुष्यंत की शकुंतला के प्रति रति के भाव का उस अवस्था में पहुँच जाना कि यह रति शकुंतला के प्रति दुष्यंत की रति न रहकर पुरुष की स्त्री के प्रति साधारण रति-मात्र रह जाए।

2. भट्टनायक और अभिनवगुप्त इसका भी निषेध करते हैं कि हम दुष्यंत के स्थान पर अपने को और शकुंतला के स्थान पर अपनी प्रेयसी को देखने लगते हैं, क्योंकि एक तो अपनी रति का प्रकाशन लज्जास्पद है, दूसरे यह भी संभव है कि हमारा किसी व्यक्ति-विशेष से प्रेम ही न हो। उस समय शुक्ल जी कहते हैं कि हमारे सामने कल्पित सुंदरी का चित्र आएगा, परंतु किसी कल्पित सुंदरी का चित्र आना व्यक्तिगत रति का नहीं, साधारण रति का रूप है। दूसरे, यदि भाव मधुर न होकर कटु है (जैसे राम का रावण पर क्रोध देखकर मेरा भी अपने शत्रु के प्रति क्रोध जाग्रत हो जाता है) तो मेरा यह अनुभव प्रत्यक्ष होने के कारण कटु ही होगा। रस इसे नहीं कहते। वास्तव में यह सब कुछ होता तो साधारणीकरण की आवश्यकता ही क्यों होती?

3. प्रश्न उठता है कि साधारणीकरण किसका होता है? 'मानस' में पुष्प वाटिका के प्रसंग को पढ़ते हुए मुझे तीन व्यक्तियों की चेतना है - अपनी (सहृदय की), राम की (आश्रय की) तथा सीता की (आलंबन की)। इसके अतिरिक्त एक अव्यक्त व्यक्तित्व और है - कवि का। मेरे (सहृदय के) व्यक्तिगत आलंबन का भी एक अव्यक्त व्यक्तित्व हो सकता है।

4. क्या साधारणीकरण आश्रय का होता है? अर्थात् क्या राम का व्यक्तित्व सभी सहृदयों का व्यक्तित्व हो जाता है - और स्पष्ट शब्दों में क्या सभी सहृदय अपने को राम समझ कर रति का अनुभव करते हैं? नहीं। यहाँ शायद नायक का व्यक्तित्व प्रेय होने के कारण और भाव मधुर होने के कारण आपको 'हाँ' कहने का लोभ हो जाए। परंतु जहाँ आश्रय अप्रिय है और भाव कटु है वहाँ इसकी संभावना कैसे हो सकती है।

5. क्या साधारणीकरण नायक का होता है? नायकस्यकवेः श्रोतुः समानोअनुभवस्ततः इसमें क्या आपत्ति है? आपत्ति स्पष्ट है। संस्कृत काव्य का नायक ऐसे गुणों से विभूषित था कि उसके साथ तादात्म्य करना प्रत्येक सहृदय को सहज और स्पृहणीय था, परंतु आज तो काव्य पर यह प्रतिबंध नहीं है। आज के अनेक प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में नायक का रूप उक्त आदर्श के बिल्कुल विपरीत मिलता है जिसके साथ तादात्म्य आपके लिए न सहज होगा न स्पृहणीय।

6. क्या आलंबन का साधारणीकरण होता है? xxx क्या राम की प्रिया विश्वप्रिय बन जाती है? क्या पुष्पवाटिका की सीता भी हमारे लिए माता ही बनी रहती है? अगर माता ही बनी रहती है तो यह कहना मिथ्या है कि हम अमिश्रित शृंगार रस का अनुभव कर रहे हैं। हम जब तक उसे प्रेयसी रूप में न देखेंगे, शृंगार रस की दशा से दूर रहेंगे।

7. हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं और काव्य की यह आलंबन रूप सीता कोई व्यक्ति नहीं है जिससे हमको किसी प्रकार का संकोच करने की आवश्यकता हो वह कवि की मानसी सृष्टि है अर्थात् कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है। उसके द्वारा कवि ने अपनी अनुभूति को संवेद्य बनाया है।

8. जिसे हम आलंबन कहते हैं वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का संवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण; जो भट्टनायक और अभिनवगुप्त का प्रतिपाद्य है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है, अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिकं शब्दावली में हम कह सकते हें कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है।

9. साधारणीकरण कवि के लिए किस प्रकार संभव होता है? वह किस प्रकार अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करता है? पण्डितों ने इसके दो उत्तर दिए हैं - (1) साधारणीकरण भाषा का धर्म है (2) साधारणीकरण का मूलाधार मानव सुलभ सहानुभूति है जो सभी मनुष्यों के हृदय में एकतार अनुस्यूत है।

10. सहृदय की रसानुभूति में तो किसी को संदेह हो ही नहीं सकता। xxx रस की स्थिति सहृदय के अंतर में ही है।

इस प्रकार, डॉ.नगेन्द्र ने सर्वांग का साधारणीकरण माना है। 'अतः काव्य प्रसंग या रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानने की अपेक्षा कवि भावना का साधारणीकरण मानव मनोविज्ञान के अधिक अनुकूल है। दोनों के साथ इसकी संगति बैठ जाती है। वस्तुतः यह दोनों के बीच अनुस्यूत संबंध सूत्र है और वर्तमान में रस-सिद्धांत के सबसे समर्थ प्रतिष्ठापक आचार्य शुक्ल को भी इसमें कोई आपत्ति नहीं है।' (रस सिद्धांत, पृ. 208)

प्रो. निर्मला जैन ने आ.केशव प्रसाद मिश्र, आ.शुक्ल और डॉ.नगेन्द्र के मतों पर समग्रता में विचार करने के बाद यह प्रश्न उठाया है कि 'भट्टनायक जिस रस-सामग्री के बार-बार भावन से साधारणीकरण की चर्चा करते हैं अथवा शुक्ल जी जिसमें आलंबन पर सबसे अधिक बल देते हैं वह कवि की अनुभूति का शब्द मूर्त रूप है। परंतु सहृदय की चित्तवृत्ति के साधारणीकरण के बिना रसानुभूति कैसे सिद्ध होगी यह स्पष्ट नहीं होता।' (रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र, पृ.175) एक गंभीर बौद्धिक बहस के बाद प्रो. निर्मला जैन आखरिकार डॉ.नगेन्द्र के इस कथन से सहमत हो जाती हैं कि 'साधारणीकरण रसास्वाद का समरूप, सहचारी या संचारी नहीं, वह तो कारण है।' आचार्य केशव प्रसाद मिश्र के मत की परिसीमा यह है कि 'वे सहृदय के चित्त की एकतानता और साधारणीकरण को एक मानकर चले। वस्तुतः ये रसानुभूति की प्रक्रिया के सोपान हैं, जिनमें पूर्वापर अथवा चरम स्थिति है - जो संविद विश्रान्ति है रस है।' (वही, पृ.176) हिंदी के विद्वानों की साधारणीकरण संबंधी धारणाओं को जाँचने-परखने के बाद प्रो. जैन को कहना पड़ा है कि 'वस्तुतः भट्टनायक ने भावकत्व और भोजकत्व शक्तियों की कल्पना करके साधारणीकरण और रसास्वाद की चरमस्थिति में एक जो क्रम निर्धारित किया है, वह यों ही उड़ा देने की बात नहीं है। उन्हें भावकत्व या भोजकत्व व्यापार न कहकर भले ही व्यंजना-व्यापार के आधार पर समझा दिया जाए किंतु साधारणीकरण और रसास्वादन के मध्यक्रम चाहे कितना ही अलक्षित क्यों न हो, क्रम निश्चय ही वर्तमान रहता है।' (वही, पृ.176)

8.7 रस चिंतन पर नए संदर्भों में विचार और साधारणीकरण

आधुनिक हिंदी साहित्य में विशेष रूप से छायावादोत्तर काल में साहित्य के आस्वाद के प्रतिमान के रूप में रस-सिद्धांत पर प्रश्न-चिह्न लगाया गया। प्रगतिवादी कवि-आलोचकों ने भी और नयी कविता के कवि-आलोचकों ने भी यह बात ज़ोर देकर कही कि अब साहित्य को रस की कसौटी पर कसना उचित नहीं है। - उन्होंने कहा कि प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य के लिए रस उपयुक्त मानदंड हो सकता था किंतु समय, समाज, जीवन-स्थितियों में बदलाव के परिणामस्वरूप अब साहित्य केवल आनंदमयी चेतना नहीं है, सुंदरता के साथ-साथ कुरूपता भी आग्राह्य नहीं है। ऐसी स्थिति में रसात्मक बोध और रस निष्पत्ति कवि के अभीष्ट नहीं हैं। किंतु ये सभी आलोचक साधारणीकरण के महत्व को स्वीकार करते हैं क्योंकि यह साहित्य के सम्प्रेषण की अनिवार्य प्रक्रिया है। साधारणीकरण के लिए 'सहानुभूति', 'विश्व-दृष्टि', 'भावजगत की सामान्य अनुभूति' जैसे नए शब्द भी प्रयोग किए गए हैं और जीवन-स्थितियों की जटिलता के परिणामस्वरूप साधारणीकरण संबंधी नई चुनौतियों का दायित्व रचनाकार ने स्वीकार किया है।

8.7.1 हिंदी के प्रगतिवादी आलोचकों का मत

हिंदी के प्रगतिवादी आलोचकों ने रस-सिद्धांत पर तो अनेक आपत्तियाँ उठाई हैं लेकिन साधारणीकरण सिद्धांत को स्वीकार किया है। इन सभी ने साधारणीकरण का परम्परा से भिन्न अर्थ - 'काव्य की सम्प्रेषणीयता' के व्यापक संदर्भ में लिया है। **डॉ.रामविलास शर्मा** ने कहा है कि 'साहित्य की विषय-वस्तु नौ रसों के साँचे में ढलने से इनकार करती है।' (लोक जीवन और साहित्य, पृ.12) मार्क्सवादी आलोचकों ने प्रायः आ.शुक्ल के इस मत को स्वीकार किया है कि 'लोक हृदय में अपने हृदय को मिला देना ही रस दशा है।' काव्य-सृजन में प्रेषणीयता एक अनिवार्य शर्त है। काव्यानुभूति की प्रेषणीयता के अभाव में उसका पूरा सौंदर्य निष्क्रिय दिखाई देता है। डॉ.शर्मा ने सौंदर्य-बोध, भाव-बोध, इन्द्रिय-बोध का पारस्परिक संबंध दिखाते हुए कहा है कि सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास, कवि-चेतना को निर्धारित करते हैं।

1. प्रकृति, मानव जीवन तथा ललित कलाओं के आनंदात्मक गुण का नाम सौंदर्य है। इस स्थापना पर आपत्ति यह की जाती है कि कला में असुंदर को भी स्थान मिलता है। xxx इस आपत्ति का उत्तर यह है कि कला में कुरूप और असुंदर विवादी स्वरों के समान है जो राग के रूप को निखारते हैं। xxx दुखांत नाटकों में हम दूसरों का दुःख देखकर द्रवित होते हैं। हमारी सहानुभूति अपने तक अथवा परिवार या मित्रों तक सीमित न रहकर एक व्यापक रूप ले लेती है। मानव-करुणा के इस प्रसार को हम सुंदर कहेंगे या असुंदर?

2. व्यक्तिगत संबंधों के अतिरिक्त भी सौंदर्यानुभूति की एक कोई सामान्य भूमि है। xxx मनुष्य के इन्द्रिय-बोध का संसार बहुत विशाल है उसमें एक से अधिक वर्गों और देशों के लोग भाग लेते हैं। ललित कलाओं की सार्वजनीन लोकप्रियता का बहुत बड़ा कारण इन्द्रिय-बोध की व्यापकता है।

3. इस इन्द्रिय-बोध के साथ मनुष्य का भाव जगत है। अपने सामाजिक विकास के साथ मनुष्य ने इस भाव जगत को परिष्कृत और समृद्ध किया है।

4. अनुभूतियों का आधार मनुष्य का सामाजिक जीवन है। यह वस्तुगत आधार होने से ही हम एक-दूसरे के अनुभव को जानते-पहचानते हैं, भिन्नता के होते हुए भी इस वस्तुगत आधार के कारण हम एक-दूसरे के निकट आते हैं। 'भारतीय काव्यशास्त्र ने साधारणीकरण के सिद्धांत द्वारा इस भाव जगत की सामान्य अनुभूति भूमि की ओर संकेत किया। यह उसकी बहुत बड़ी विशेषता है। शुक्ल जी ने उस प्राचीन स्थापना को नवीन रूप देते हुए लिखा था कि सच्चा कवि वही है जिसे लोक हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके।' (आस्था और सौंदर्य, पृ.30)

कहना न होगा कि डॉ.रामविलास शर्मा ने आ.शुक्ल की साधारणीकरण से संबंधित मान्यताओं से अपनी सहमति व्यक्त की है।

गजानन माधव मुक्तिबोध ने सौंदर्यानुभूति, साधारणीकरण और कला के स्वभाव पर विस्तार से विचार किया है। उनके चिंतन का सार इस प्रकार है-

1. इसीलिए सौंदर्यानुभव जीवन के सारस्वरूप का प्रगाढ़ मार्मिक अनुभव है किंतु वह तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य को अपने से परे जाने, अपने से ऊपर उठने, तटस्थ होने, निजबद्धता से मुक्त होने के साथ-साथ (और एक साथ) तन्मय होने का, विलीन हो जाने का मानवीय गुण और गुण का सामर्थ्य प्राप्त हो, तभी वह विशिष्ट की सामान्य में परिणति की मुक्त आत्मीयता का आनंद ले सकेगा।

2. कलाकार में निजबद्धता की स्थिति से ऊपर उठने की क्षमता का विकास होना आवश्यक है।

3. इस प्रकार हम देखते हैं कि सौंदर्यानुभूति के दो लक्षण हैं। (एक) आत्मबद्ध दशा का परिहार। (दो) आनंदात्मक अनुभव। xxx सौंदर्यानुभूति उच्च स्तर पर, अधिक उदात्त स्तर पर, जीवनानुभूति ही का एक रूप है। xxx उसमें जीवनानुभवों का पुनः सृजन होता है संवेदना पूर्ण कल्पना द्वारा। xxx किंतु इस पूरे अनुभव में, आत्मबद्ध दशा का परिहार होना अत्यंत आवश्यक है।

4. अतएव सौंदर्यानुभव वास्तविक जीवन की मनुष्यता है। अपने से परे उठने और परे जाने की मनुष्य-क्षमता से उसका पूरा और सीधा संबंध है।

(नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध, पृ.167)

आ.शुक्ल का 'लोक हृदय में हृदय को लीन करने की 'दशा' वाला भाव ग.मा.मुक्तिबोध की 'विश्व-दृष्टि' चेतना में व्याप्त है। वस्तुतः साधारणीकरण एक अर्थ में बृहत्तर सामाजिकता से साक्षात्कार की शक्ति है। कलाकार एक विश्व-चेतस् और आत्म-चेतस् प्रबुद्ध मानव है जो कला में निजी आत्मबद्धता से ऊपर उठकर निर्वैयक्तिकता को प्राप्त हो जाता है।

8.7.2 नये साहित्य में साधारणीकरण पर विचार

नये साहित्य में **अज्ञेय** ने साधारणीकरण और सम्प्रेषण की समस्या को नए ढंग से उठाया है। उनके विचार से आधुनिक भाव-बोध के जटिल हो जाने की समस्या एक चुनौती का रूप धारण करती रही है। इसलिए कवि-कर्म कठिन होता गया है। कवि के सामने अनुभूति की जटिलता के कारण विचार-सम्प्रेषण की समस्या उपस्थित होती रही है। पर इस संकट का बोध हम सभी को एक-सा नहीं होता, नहीं हो सकता क्योंकि लेखक स्वयं ही परिवेश हो गया है। इसी परिवेश में भावकत्व व्यापार की महत्व-प्रतिष्ठा करते हुए अज्ञेय ने कहा है कि -

1. तारसप्तक के कवियों पर यह आक्षेप किया गया है कि वे साधारणीकरण का सिद्धांत नहीं मानते। यह दोहरा अन्याय है क्योंकि वे न केवल इस सिद्धांत को मानते हैं बल्कि इसी से प्रयोगों की आवश्यकता भी सिद्ध करते हैं।

2. यह मानना होगा कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ हमारी अनुभूतियों का क्षेत्र भी विकसित होता गया है और अनुभूतियों को व्यक्त करने के हमारे उपकरण भी विकसित होते गए हैं। यह कहा जा सकता है कि हमारे मूल राग-विराग नहीं बदले - प्रेम अब भी प्रेम है - घृणा अब भी घृणा। यह साधारणतया स्वीकारात्मक संबंधों की प्रणालियाँ बदल गयी हैं; और कवि का क्षेत्र रागात्मक संबंधों का क्षेत्र होने के कारण इस परिवर्तन का कवि-कर्म पर बहुत गहरा असर पड़ा है।

3. लेकिन जैसे-जैसे बाह्य वास्तविकता बदलती है, वैसे-वैसे हमारे उससे रागात्मक संबध जोड़ने की प्रणालियाँ भी बदलती हैं - और अगर नहीं बदलतीं तो उस बाह्य वास्तविकता से हमारा संबंध टूट जाता है।

4. कहना होगा कि जो आलोचक इस परिवर्तन को नहीं समझ पा रहे हैं, वे उस वास्तविकता से टूट गए हैं जो आज की वास्तविकता है। उससे रागात्मक संबंध जोड़ने में असमर्थ वे उसे केवल बाह्य वास्तविकता मानते हैं जबकि हम उससे वैसा संबंध स्थापित करके उसे आंतरिक सत्य बना लेते हैं। और इस विपर्यय से साधारणीकरण की नई समस्याएँ आरंभ होती हैं।

5. प्राचीनकाल में, जब ज्ञान का क्षेत्र सीमित था, जब कवि, वैज्ञानिक, साहित्यिक आदि अलग-अलग बिल्ले अनावश्यक थे और जो पठित या शिक्षित था, सभी ज्ञानों में पारंगत नहीं तो उनसे परिचित तो था ही, साधारणीकरण की समस्या दूसरे प्रकार की थी। तब भाषा का एक मुहावरा था। या कह लीजिए कि शिक्षित वर्ग का एक मुहावरा था, जन का एक और। एक संस्कत था एक प्राकत। लेकिन आज क्या वह स्थिति है?

6. विशेष ज्ञानों के इस युग में भाषा एक रहते हुए भी उसके मुहावरे अनेक हो गए हैं। आज भाषा भी प्रेषण का माध्यम है; यह कोई नहीं कहता कि उसने अपनी सार्वजनिकता की प्रवृत्ति छोड़ दी है या छोड़ दे। लेकिन वह अब प्रवृत्ति है तथ्य नहीं। ऐसी कोई भाषा नहीं जो सब समझते हों -सब बोलते हों।

7. अंग्रेजी है, अंग्रेजी के बड़े-बड़े कोश हैं जो शब्दों के सर्वसम्मत अर्थ देते हैं, पर गणितज्ञ की अंग्रेजी दूसरी है, अर्थशास्त्री की दूसरी और उपन्यासकार की दूसरी। ऐसी स्थिति में जो कवि एक क्षेत्र का सीमित सत्य (तथ्य नहीं सत्य अर्थात् उस सीमित क्षेत्र में जिस तथ्य से रागात्मक संबंध है वह) उसी क्षेत्र में नहीं, उससे बाहर अभिव्यक्त करना चाहता है - उसके सामने बड़ी समस्या है। या तो वह यह प्रयत्न ही छोड़ दे, सीमित सत्य को सीमित क्षेत्र में सीमित मुहावरे के माध्यम से अभिव्यक्त करे यानी साधारणीकरण तो करे पर साधारण का क्षेत्र संकुचित कर दे, अर्थात् एक अंतर्विरोध का आश्रय ले या फिर एक बृहत्तर क्षेत्र तक पहुँचने का आग्रह न छोड़े और इसलिए क्षेत्र के मुहावरे से बँधा न रहकर उससे बाहर जाकर राह खोजने की जोखिम उठाये। इस प्रकार वह साधारणीकरण के लिए ही एक संकुचित क्षेत्र का मुहावरा छोड़ने को बाध्य होगा।

8. जरा भाषा के मूल प्रश्न पर - शब्द और अर्थ के संबंध पर ध्यान दीजिए। शब्द में अर्थ कहाँ से आता है, क्यों और कैसे बदलता है, अधिक या कम व्याप्ति पाता है। xxx एक अत्यंत छोटा उदाहरण लिया जाए। हम कहते हैं 'गुलाबी' और उससे एक विशेष रंग का बोध हमें होता है। निस्संदेह इससे अभिप्राय है गुलाब के फूल जैसा रंग, यह उपमा उसमें निहित है। xxx उस समय यह प्रयोग चमत्कारिक रहा होगा। पर अब वैसा नहीं है। अब हम शब्द से सीधे रंग तक पहुँच जाते हैं फूल की मध्यस्थता अनावश्यक है। अब उस अर्थ का चमत्कार मर गया है अब वह अभिधेय हो गया है। xxx यह क्रिया भाषा में निरंतर होती रहती है और भाषा के विकास की अनिवार्य क्रिया है। चमत्कार मरता रहता है और चमत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता रहता है। xxx इस प्रकार कवि के सामने हमेशा चमत्कार सृष्टि की समस्या बनी रहती है वह शब्दों को निरंतर नया संस्कार देता चलता है और वे संस्कार क्रमशः सार्वजनिक मानस मे पैठकर फिट ऐसे हो जाते हैं कि उस रूप में कवि के काम के नहीं रहते - 'बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।'

9. जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेय बन जाता है तब उस शक्ति की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है। उस अर्थ से रागात्मक संबंध स्थापित नहीं होता। कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है जिससे पुनः राग का संचार हो, पुनः रागात्मक संबंध स्थापित हो। साधारणीकरण का अर्थ यही है।

10. क्या है जो कविता को आवृत्ति का नहीं, सृष्टि का गौरव देता है? कवि नए तथ्यों को उनके साथ नए रागात्मक संबंध जोड़कर नए सत्यों का रूप दे, उन नए सत्यों को प्रेष्य बनाकर उनका साधारणीकरण करे, यही नयी रचना है। इसे नयी कविता का कवि नहीं भूलता। साधारणीकरण का आग्रह भी उसका कम नहीं है बल्कि यह देखकर कि आज साधारणीकरण अधिक कठिन है वह अपने कर्तव्य के प्रति अधिक सजग है और उसकी पूर्ति के लिए अधिक बड़ा जोखिम उठाने को तैयार है। ('दूसरा सप्तक', भूमिका)

अज्ञेय के साथ उनकी पूरी पीढ़ी ने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की प्रगति और प्रवृत्ति - विशेषीकरण पर ध्यान देकर साधारणीकरण की कठिनता पर गंभीरता से विचार-विवेचन किया है। **लक्ष्मीकांत वर्मा** ने 'नये प्रतिमान पुराने निकष', **रघुवंश** 'साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य', **जगदीश गुप्त** 'नयी कविता : सीमाएँ और संभावनाएँ', **डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी** 'भाषा और संवेदना', **धर्मवीर भारती** 'मानव मूल्य और साहित्य', **डॉ.नामवर सिंह** 'कविता के नये प्रतिमान' में काव्य-सम्प्रेषण की चुनौतियों पर नया चिंतन किया है।

8.8 पश्चिमी विद्वानों के काव्यानुभूति की प्रक्रिया संबंधी सिद्धांत

पश्चिमी काव्यशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र में काव्यानुभूति की प्रक्रिया पर विचार की एक समृद्ध परम्परा है। यह ठीक है कि वहाँ रस-चिंतन जैसी कोई चीज़ नहीं है, लेकिन काव्यानुभूति और काव्यास्वाद के मौलिक प्रश्न तो उनके सामने भी आते रहे हैं। सम्प्रेषण और ग्रहण की प्रक्रिया पर पश्चिम में सौंदर्यशास्त्र के अंतर्गत विस्तार से विचार हुआ है। विचार का मूल मुद्दा रहा है कि कवि अपने अनुभव

को पाठक तक कैसे सम्प्रेषित करता है तथा पाठक उस अनुभव को कैसे ग्रहण कर पाता है। प्रो. निर्मला जैन ने 'रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र' शीर्षक शोध-प्रबंध में साधारणीकरण सिद्धांत की तुलना पश्चिम के अनेक काव्यानुभूति की प्रक्रिया से संबंधित सिद्धांतों से की है। उन्होंने पश्चिम के प्रमुख सिद्धांतों का सार इस प्रकार दिया है -

> 'कलागत सौंदर्यानुभूति का विषय सदा आत्म से इतर होता है। अतः वह जीवनगत घटनाओं की प्रत्यक्ष अनुभूति न होकर, उन घटनाओं या विषयों से कला-निबद्ध रूप की कल्पनासिद्ध अनुभूति होती है। इस प्रकार कला-सृजन और कलानुभूति, स्रष्टा और ग्राहक के बीच अनुभूति के धरातल पर संवाद है। वह ग्राहक के द्वारा विषय का सीधा अनुभव न होकर दूसरे के अनुभव का अनुभव है। यह परगत अनुभव ग्राहक का आत्मगत अनुभव किस सामान्य भावभूमि पर कैसे हो जाता है यह प्रश्न सौंदर्यानुभूति की प्रक्रिया से सम्बद्ध है। इस प्रक्रिया में जो 'सामान्य' तत्व है, उसका एक अभिप्राय तो कवि और ग्राहक के बीच किसी सामान्य भावभूमि से है और दूसरा अनेक एक देशीय और समसामयिक ग्राहकों तथा विभिन्न देश-काल के व्यक्तियों के बीच अनुस्यूत उस सामान्य सूत्र से है जो किसी कलाकृति को सार्वभौम या कालसिद्ध रूप देता है।' (पृ.178)

प्रत्येक देश के रचनाकार की परम्परा-संस्कृति-इतिहास-भूगोल की मानसिकता की बनावट भिन्न होती है। मनोभूमिका की यह भिन्नता कलाकृति की अनुभूति में दखल देती है। इसलिए एक ही कलाकृति पर पाठकों की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। जैसे हमारी परम्परा में शेक्सपियर जन्म नहीं ले सकता है वैसे ही पश्चिम की परम्परा में कालिदास-तुलसीदास का जन्म संभव नहीं। फिर भी पाठक इन रचनाकारों की कृतियों का आस्वादन तो करता ही है।

कवि और पाठक के बीच एक 'सामान्य भूमि' मानव-संवेगों के **सामाजिक-सांस्कृतिक सामूहिक रूप** के आधार पर निर्मित होती है। मनोविश्लेषणशास्त्री सी.जी.युंग और मार्क्सवादी सिद्धांतकार क्रिस्टोफर कॉडवेल तथा साहित्य-मनीषी एफ.आर.लीविस तीनों क्षेत्रों के विद्वान अंततः एक ही राय व्यक्त करते हैं कि रचना की 'सामान्य भूमि' का आधार **सामाजिक-सामूहिक-निर्वैयक्तिक चेतना** है। युंग तो साफ कहते हैं कि हम कलानुभूति और कलास्वाद के क्षणों में 'व्यक्ति' नहीं 'सामूहिक मानव' (क्लेक्टिव मैन) होते हैं। टी.एस.इलियट के 'निर्वैयक्तिकता सिद्धांत' का एफ.आर.लीविस समर्थन कर देते हैं। क्या यह उसी सत्य का साक्षात्कार नहीं है जिसे युंग कहते हैं कि 'प्रत्येक महान कलाकृति वस्तुगत और निर्वैयक्तिक होते हुए भी हममें से प्रत्येक को गहरे स्तर पर विचलित करती है।' मूल बात यह है कि काव्यानुभूति की प्रक्रिया एक प्रकार से निर्वैयक्तिकता (डि-परसनलाइज़ेशन) की प्रक्रिया है। रचनाकार अपनी अनुभूतियों को मिथकों-प्रतीकों-बिम्बों, रूपकों, अभिप्रायों की भाषा में वस्तुगत रूप देता है। काव्यानुभूति की प्रक्रिया का 'विशेष' पाठक में 'सामान्य' कैसे बनता है - इस समस्या पर विद्वानों ने कई कोणों से विचार किया है। यहाँ प्रमुख सिद्धांतों की चर्चा जरूरी है -

(क) विरोधों का सामंजस्य
(ख) समानुभूति का सिद्धांत
(ग) आसक्तिहीन आसक्ति का सिद्धांत
(घ) अव्यक्तिवाद का सिद्धांत
(च) संवेग संतुलन की निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत
(छ) निर्वैयक्तिकता-सिद्धांत का नया पाठ

(क) विरोधों का सामंजस्य

विद्वानों का एक बड़ा समुदाय यह हमेशा मानता रहा है कि एक श्रेष्ठ रचना की पहचान है - विरोधी तत्वों में सामंजस्य स्थापित करने की शक्ति। इस विचार के बीज **अरस्तू** के 'विरेचन सिद्धांत' में पाते हैं। त्रासदी की शक्ति इस बात से ही जानी जा सकती है कि उसमें त्रास और करुणा के बीच सामंजस्य घटित हो पाता है या नहीं। अरस्तू के बाद इस सिद्धांत की तार्किक स्थापना रोमाण्टिक विचारकों ने करनी चाही है - विशेष कर जर्मन रोमाण्टिक विचारकों में **श्लेगल** का नाम प्रमुख है। जर्मन दार्शनिकों से प्रभावित अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि-आलोचक **कॉलरिज** ने 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' में कल्पना-सिद्धांत की चर्चा करते हुए कहा है कि कल्पना की शक्ति विरोधों में सामंजस्य स्थापित करने में है। 'कल्पना की यह शक्ति विरोधी गुणों के सामंजस्य में अपने आपको व्यक्त करती है।' यहाँ ध्यान देने की विशेष बात यह है कि 'विरोधों का सामंजस्य' सिद्धांत को रोमाण्टिक कव्य के विरोधी **टी.एस.इलियट** और **आई.ए.रिचर्डस** ने भी स्वीकार किया है। एलियट ने विरोधों के सामंजस्य को

'विट' (वैदग्ध) के अंतर्गत समझाया और रिचर्डस ने समाहार-धर्मी कविता की 'आयरनी' (विडम्बना) के अंतर्गत। विडम्बना का कार्य है - विरोधी-वृत्तियों का अंतर्भाव।'विरोधी संवेगों के बीच संतुलन' सिद्धांत के प्रतिष्ठापक रिचर्डस ने काव्य-लय के अर्थ व्यापार को भी विरोधों के सामंजस्य के भीतर ही महत्वपूर्ण माना है। हिंदी समीक्षा में आ.शुक्ल ने विरोधों के सामंजस्य और समाहार-शक्ति की चर्चा पर पर्याप्त बल दिया है।

(ख) समानुभूति का सिद्धांत

पश्चिमी सौंदर्यशास्त्र में सौंदर्यानुभूति की प्रक्रिया के एक विशेष पक्ष को 'थियरी ऑफ एम्पेथी' (Theory of Empathy)के अंतर्गत प्रस्तुत किया गया है। हिंदी में इस 'एम्पेथी' के लिए 'समानुभूति का सिद्धांत' एक अवधारणा के रूप में आया है। मूलतः यह सिद्धांत मूर्तिकला तथा नृत्यकला के संदर्भ से संबंधित है किंतु इसका विस्तार संगीत और साहित्य को भी अपने में समेट लेता है। जर्मन विद्वान **थ्योडोर लिप्स** के अनुसार समानुभूति का अर्थ है - सौंदर्य के क्षण में विषय और विषयी के मध्य द्वैत-चेतना का लोप और अद्वैत की भावना का उदय। द्वैत-बोध का लोप विषयी के द्वारा विषय पर अहं के प्रक्षेपण से होता है। **विल्हेम वोरिंगर** ने पृथक्करण (एब्सट्रेक्शन) के विरोध में समानुभूति को व्यापक अर्थ-संदर्भों में परिभाषित किया है। उनके विचार से ग्रीक-रोमन, पुनर्जागरण और आधुनिक यथार्थवादी कलाकृतियाँ ही समानुभूति जाग्रत करती हैं। इस जागृति का कारण है - माँसलता, मूर्त्तता और ऐन्द्रिय-बोध। किंतु अमूर्त कलाएँ 'पृथक्करण' उत्पन्न करती हैं। पृथक्करण में ग्राहक अमूर्त रूपों का कल्पना के सहारे अतिक्रमण करता है पर यह प्रक्रिया बहुत जटिल है। इसलिए समानुभूति के सिद्धांत को अधिकांश विद्वान 'साधारणीकरण' का पर्याय मानने से इनकार करते हैं।

(ग) आसक्तिहीन आसक्ति का सिद्धांत

इस सिद्धांत के प्रतिष्ठापक जर्मन दार्शनिक **काण्ट** हैं। सौंदर्य या कला विषयक आसक्ति को कांट ने 'आसक्तिहीन' माना है। उनके अनुसार, सौंदर्य ग्रहण शुद्ध बुद्धि (प्योर रीजन) और व्यावहारिक बुद्धि (प्रैक्टिकल रीजन) से भिन्न 'निर्णय' (जजमेंट) के अंतर्गत आता है जिसे कला में अभिरुचि (टेस्ट) के द्वारा परिभाषित किया जा सकता है। 'निर्णय मीमांसा' में कांट ने यह कहा है कि **कला एक परिवर्द्धित मनोवृत्ति (इनलार्ज्ड मेन्टेलिटी) है जिसमें अपने आप से सहमत होना पर्याप्त नहीं है - बल्कि हरएक के स्थान पर अपने आपको रखकर सोचना भी आवश्यक है।** अर्थात् निर्णय में वैयक्तिक सीमाओं से मुक्ति आवश्यक है। निर्णय के कार्य में दूसरों की साझेदारी आवश्यक है। निर्णय-क्षमता का संबंध सौंदर्य संबंधी 'अभिरुचि' से है। सौंदर्यगत निर्णय वैयक्तिक न होकर निर्वैयक्तिक, सार्वजनीन निर्णय हैं। कलाकृति की वस्तुगत सत्ता है जिसे अपनी-अपनी निगाह से देखने-परखने में हर पाठक स्वतंत्र है। मूल बात यह है कि सौंदर्य की यह वस्तुनिष्ठता ही 'अभिरुचि' और 'निर्णय' दोनों को निर्वैयक्तिकता प्रदान करती है। 'निर्वैयक्तिक भावभूमि पर कलाकृति के प्रति न तो किसी का कोई प्रयोजन रह जाता है न आत्मा के नैतिक आग्रह का आधार ही शेष बचता है। ग्राहक की अभिरुचि में 'आसक्तिहीन आसक्ति' की एक व्यापक वस्तुनिष्ठ स्थिति आ जाती है। यही कलानुभूति या सौंदर्यानुभूति की 'अनासक्त परितोषजन्यता' है। कलानुभूति में 'अनासक्ति' की महत्व-प्रतिष्ठा करते हुए कांट ने 'अनुभूति की विषयिगत सार्वभौमिकता के सिद्धांत को स्वीकृति दे दी।

(घ) अव्यक्तिवाद का सिद्धांत

टी.एल.एलियट ने एंटी-रोमांटिक दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया स्वरूप कला में निर्वैयक्तिकता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उनकी दृष्टि में कला व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति न होकर व्यक्तित्व से पलायन है। रोमांटिक कविता की सबसे बड़ी दुर्बलता है - भावावेग, अनियंत्रित भावोच्छ्वास। इसलिए एलियट ने रोमाण्टिक कवि के चरम व्यक्तिवाद पर आक्रमण किया है। उन्होंने निर्वैयक्तिकता-सिद्धांत की स्थापना काव्य की सृजन-प्रक्रिया के धरातल पर की और कवि की व्याख्या सर्जक के रूप में नहीं, माध्यम के रूप में की। उनका तात्पर्य यह है कि **कवि के पास अभिव्यक्त करने के लिए 'व्यक्तित्व' नहीं, बल्कि एक विशेष माध्यम होता है जो केवल एक माध्यम होता है व्यक्तित्व नहीं जिसमें विभिन्न प्रभाव और अनुभव विशिष्ट और अप्रत्याशित रूपों में संयुक्त हो जाते हैं।** कवि-कर्म की प्रक्रिया में निजी और व्यक्तिगत अनुभवों को अमान्य ठहराकर जब एलियट 'व्यक्तित्व से पलायन' की बात करते हैं तो उनका उद्देश्य व्यक्ति-तत्व का निषेध और तिरस्कार नहीं होता - उसका निर्वैयक्तिकीकरण होता है। 'होता यह है कि क्षण-विशेष में व्यक्ति जैसा भी है उसका निरंतर समर्पण किसी अधिक मूल्यवान वस्तु के प्रति होता है। एक कलाकार की प्रगति व्यक्तित्व के निषेध और अनवरत् आत्म-बलिदान में है।' निर्वैयक्तिकीकरण की यह प्रक्रिया कला को विज्ञान की स्थिति के निकट पहुँचा देती है। इसके लिए, एलियट ने एक उत्प्रेरक (catalyst) का दृष्टान्त दिया। ऑक्सीज़न और सल्फर डाइऑक्साइड मिलकर

सल्फ्यूरस एसिड बन जाते हैं। यह संयोजन तभी घटता है जब प्लेटिनम मौजूद हो, फिर भी इस नवनिर्मित गैस में प्लेटिनम का कोई चिह्न नहीं बचता और स्वयं प्लेटिनम पर भी कोई प्रभाव पड़ता प्रतीत नहीं होता, वह निष्क्रिय, तटस्थ और अपरिवर्तित रहता है। कवि का मानस-प्लेटिनम का तार है। xxx कलाकार जितना ही सिद्ध होगा उसके भीतर के भोक्ता और सृष्टा मानव का पार्थकय होगा।' इस प्रकार एलियट के निर्वैयक्तिकता-सिद्धांत में वैयक्तिकता मात्र का निषेध है। 'महान कला इस अर्थ में निर्वैयक्तिक होती है कि वैयक्तिक संवेग और वैयक्तिक अनुभव विस्तृत होकर आत्मेतर में पूर्णता प्राप्त करते हैं। वह वैयक्तिक अनुभव और संवेग के अर्थ में निर्वैयक्तिक नहीं।' जिस प्रकार कवि व्यक्तित्व अपनी वैयक्तिकता को त्याग कर बृहत्तर आत्मेतर पूर्णता को प्राप्त होता है उसी प्रकार काव्यानुभूति के क्षणों में पाठक या सामाजिक भी अपनी निजता या वैयक्तिकता से मुक्त होकर किसी आत्मेतर अनुभूति में पूर्ण होता है।

(च) संवेग संतुलन की निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत

आई.ए.रिचर्डस के अनुसार कलानुभूति की निर्वैयक्तिकता का पहला कारण काव्यानुभूति को किसी भी प्रकार के विजातीय तत्व के मिश्रण से बचाने का प्रयत्न है। यहाँ तक हम अपनी वैयक्तिक विचित्रताओं तक को उसमें प्रवेश नहीं करने देते। दूसरे, एक ही काव्य-कृति का अनुभव थोड़े से अंतर के साथ अनेक व्यक्ति कर लेते हैं। इससे जाहिर है कि काव्य-कृति व्यक्तिगत सम्पत्ति न होकर सामूहिक सम्पत्ति होती है। इससे काव्य-कृति की निर्वैयक्तिकता स्वतः प्रमाणित हो जाती है। हम कह सकते हैं कि कलाकृति में काव्यानुभूति या जीवनानुभूति की विशिष्टता उसकी निर्वैयक्तिकता में ही अंतर्भूत है। रिचर्डस भारी छान-बीन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संवेग-संतुलन सिद्धांत की अपरिहार्य परिणति है - कलाकृति की निर्वैयक्तिकता। 'साहित्य समीक्षा के सिद्धांत' शीर्षक पुस्तक के त्रासदी के आस्वाद के प्रकरण में रिचर्डस ने 'संवेग-संतुलन' सिद्धांत की तार्किक व्याख्या प्रस्तुत की और कहा कि 'निर्वैयक्तिकता की स्थिति में पाठक की अधिकाधिक रुचियाँ शामिल रहती हैं। वह वैयक्तिक सीमाओं से ऊपर उठकर निर्वैयक्तिक भाव-भूमि को प्राप्त हो जाता है। एफ.आर.लीविस के अनुसार, रिचर्डस की सबसे बड़ी देन अर्थ-मीमांसा के क्षेत्र में काव्यानुभूति की ऐसी प्रक्रिया उपस्थित करना है जो पूर्ववर्ती मान्य प्रक्रियाओं से कहीं अधिक मूल्यवान और समर्थ है।

(छ) निर्वैयक्तिकता-सिद्धांत का नया पाठ

अंग्रेज़ी आलोचनाशास्त्र में **एफ.आर.लीविस** ने एक बड़ा काम यह किया है कि उन्होंने टी.एस.एलियट द्वारा व्याख्यायित 'निर्वैयक्तिकता' संबंधी मान्यता को चिंतन की सूक्ष्म-गहन ताकत से आगे बढ़ाया है। वाल्टर स्काट की एक कविता का विश्लेषण करते हुए 'विचार और संवेगात्मक गुण' नामक निबंध में लिखा है कि 'उसे (प्राइड मैजी कविता) पढ़ते हुए ऐसा नहीं लगता कि हमें केवल संवेग ही प्रदान किए गए हैं। जैसे-जैसे हम कविता को पढ़ते जाते हैं और उसके नाटकीय तत्वों से साक्षात्कार करते जाते हैं - संवेग विकसित होता है और अपने आपको परिभाषित करता है। उस कविता के प्रभाव-स्वरूप जो तथ्य हमारे हाथ लगता है - उसमें संवेगात्मक अनासक्ति का अहसास है। इस 'अनासक्ति' शब्द के स्थान पर हम 'निर्वैयक्तिकता' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं और इस शब्द के द्वारा हम सर्वाधिक महत्वपूर्ण आलोचनात्मक अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। इस कथन से ज़ाहिर है कि काव्य में निर्वैयक्तिक संवेग वह है जो कविता में विभावन व्यापार के माध्यम से अपने को परिभाषित करता है। सफल कवि वैयक्तिक संवेग को परस्पर विरोधी जटिल अनुभूत संयोजन के द्वारा निर्वैयक्तिक रूप देने में सक्षम होता है। टेनीसन की कविता के माध्यम से उन्होंने यह भी कहा कि जहाँ निर्वैयक्तिकता नहीं होती वहाँ भाव का प्रभावहीन सरलीकरण होता है। कारण, भावों के वैयक्तिक स्तर में सस्ती भावुकता प्रविष्ट होकर 'वैयक्तिक एकीकरण' में बाधा डालती है और कवि यथार्थ का उन्मुक्त भाव से सामना करने में डगमगा जाता है। मूल बात यह है कि लीविस ने 'निर्वैयक्तिकता' में संवेगों की सार्वभौमिकता का प्रतिपादन किया। डी.एच.लारेन्स के सृजन-मर्म का उद्घाटन करते हुए उन्होंने यह भी कहा कि अराजकता से भरे इस जीवन-जगत में व्यक्ति अपना आंतरिक विकास करना चाहता है और विकास तभी संभव है जब हम अनासक्त होकर अपनी विवेक-बयस्कता को धार दें। काव्य, कवि के साथ अपने पाठक को भी निवैयक्तिक भावभूमि प्रदान करता है और उसका आत्म-विस्तार भी करता है।

8.9 काव्यात्मक भाषा और साधारणीकरण

काव्यानुभूति के सम्प्रेषण के लिए विभावादि में सामान्यीकरण का सामर्थ्य होना ही सब कुछ नहीं है - बल्कि विभावादि का काव्यात्मक भाषा में निष्पन्न होना भी अपेक्षित है। भारतीय और पाश्चात्य जगत के

काव्यशास्त्री इस बात पर पूरी तरह एकमत हैं कि भाव-सम्प्रेषण के लिए काव्य-भाषा का महत्व असंदिग्ध है। स्वयं भट्टनायक ने साधारणीकरण के प्रसंग में काव्य-भाषा का प्रश्न उठाया और शब्द-विलक्षणता को आवश्यक माना। 'काव्यात्मक शब्द' के कारण ही अभिधा-व्यापार से ज्यादा भावकत्व व्यापार विलक्षण अर्थ-दीप्ति पैदा करता है। इसी संकेत को ग्रहण करते हुए अभिनवगुप्त ने अभिधा भावकत्व व्यापार को 'व्यंजना व्यापार' में समाविष्ट करने का प्रस्ताव किया। अभिनवगुप्त ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के छंद 'ग्रीवा-भंगाभिरामं' का उदाहरण पेश करते हुए कहा कि काव्य-भाषा के द्वारा ही यहाँ भयाक्रान्त मृग का साक्षात्कार काव्य-बिंब ग्रहण के रूप में होता है। आ.शुक्ल ने अर्थ ग्रहण के साथ बिंब ग्रहण की जो बात कही है उसके लिए भी काव्य-भाषा का वैशिष्ट्य अपेक्षित है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में 'त्रासदी' के संदर्भ में भाषा की काव्यात्मकता पर विचार करने की एक परम्परा रही है। इसी परम्परा के चिन्तन का सार प्रस्तुत करते हुए जार्ज संतायना ने कहा कि 'विषय नहीं बल्कि कलात्मक निर्वाह ही त्रासदी को त्रासदी का गौरव प्रदान करता है।' हेमलेट के स्वगत कथन काव्यात्मक गुण के कारण ही पाठक के मर्म को छूते हैं। एफ.आर.लीविस ने 'त्रासदी और माध्यम' शीर्षक निबंध में कहा है कि त्रासदी की निर्वैयक्तिकता का आधार ही 'भाषा के काव्यात्मक उपयोग' में निहित है। काव्यात्मक से यहाँ अर्थ है वह नाटकीय भाषा जो वक्रोक्ति-विदग्धता से परिपूर्ण होती है। यही बात अभिनवगुप्त 'व्यंजना व्यापार' से कहते हैं। जिसे लीविस 'अन्वेषणात्मक सृजनशीलता' कहते हैं वह 'अपूर्व वस्तु निर्माण क्षमता' के ही समकक्ष है। इस प्रकार काव्यानुभूति की निर्वैयक्तिकता के साथ भाषा की निर्वैयक्तिकता की बात करना गहन सूझ-बूझ का नतीजा है।

संस्कृत के आचार्यों, विशेषकर अभिनवगुप्त और पंडितराज जगन्नाथ ने साधारणीकरण और काव्य-भाषा के भावमय प्रयोग पर विस्तार से विचार किया है। हिंदी में आ.शुक्ल ने इस परंपरा को 'कविता क्या है?', 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' जैसे निबंधों में आगे बढ़ाया है। अज्ञेय ने 'तारसप्तक', 'दूसरा सप्तक', 'तीसरा सप्तक' की भूमिकाओं में साधारणीकरण और काव्य-भाषा के प्रश्न को नए नया आयाम दिया है। साधारणीकरण मूलतः सम्प्रेषण व्यापार है और इस व्यापार की शक्ति कवि काव्य-भाषा के भावमय प्रयोग से ही प्राप्त करता है। मुक्तिबोध, डॉ.रामविलास शर्मा, डॉ.रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ. देवराज, रघुवीर सहाय, जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकांत वर्मा आदि ने काव्य-भाषा और सम्प्रेषण पर निरंतर विचार किया है।

8.10 पश्चिम के काव्यानुभूति की प्रक्रिया संबंधी सिद्धांतों से साधारणीकरण की तुलना

भारतीय साधारणीकरण सिद्धांत के समकक्ष पश्चिमी आलोचनाशास्त्र में निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत चर्चा के केंद्र में रहा है। अरस्तू के विरेचन का व्यापक अर्थ है - निर्वैयक्तिकीकरण (डि-इंडिविजुअलाइज़ेशन)। हीगेल को 'विरेचन' का उपर्युक्त अर्थ ही मान्य रहा। यह अर्थ काण्ट के 'आसक्तिहीन आसक्ति' के पर्याप्त निकट है क्योंकि निज-पर की भेद-बुद्धि से दूर आसक्तिहीनता ही निर्वैयक्तिकता है जिसमें पाठक या सहृदय देश-काल के बंधनों से मुक्त हो जाता है। विशिष्ट व्यक्तिगत संसर्गों से मुक्ति ही साधारणीकरण है। साधारणीकरण यदि 'काव्यानुभूति की सार्वभौमिकता' नहीं है तो क्या है। क्योंकि सार्वभौमिकता में निर्वैयक्तिकता की ही व्याप्ति है। टी.एस.एलियट ने रोमाण्टिक काव्य की अतिशय भावुकता का विरोध करते हुए कहा कि कवि पर नहीं, कविता पर ध्यान देना चाहिए। काव्य एक व्यक्ति की नहीं, एक माध्यम की अभिव्यक्ति है। कला आत्मदान है, आत्म-समर्पण है - इसका अर्थ है कि कलाकार निरंतर अपने व्यक्तिगत मन को, अपने तात्कालिक, क्षणिक अस्तित्व को एक बृहत्तर व्यक्तित्व के निर्माण के लिए मिटाता रहता है। व्यक्तित्व का उत्सर्ग उसका विनाश नहीं है क्योंकि उसके द्वारा वह परम्परा का विकास कर रहा है जिसपर वह निछावर है। छोटे व्यक्तित्व से निरंतर बड़े व्यक्तित्व की ओर बढ़ते जाना - व्यष्टि 'स्व' से समष्टि 'पर' की ओर बढ़ते जाना ही कलाकार की प्रगति है और कला की निर्वैयक्तिकता।

प्रो.निर्मला जैन ने भारतीय काव्यशास्त्र में साधारणीकरण सिद्धांत तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र में निर्वैयक्तिकता से संबंधित सिद्धांतों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं -

1. रसानुभूति की प्रक्रिया की जैसी सम्यक्-संपूर्ण व्याख्या भारतीय काव्यशास्त्र के साधारणीकरण सिद्धांत में सुलभ होती है, उनके तुल्य पाश्चात्य काव्यशास्त्र एवं सौंदर्यशास्त्र में कोई एक अकेला सिद्धांत या सर्वांगपूर्ण अवधारणा नहीं है।

2. साधारणीकरण की तुलना में प्रायः जिस 'एम्पेथी' सिद्धांत को उपस्थित किया जाता रहा है, वह साधारणीकरण व्यापार के एक अंश से तुलनीय है और वह अंश है - तादात्म्य अथवा तन्मयीभवन, किंतु 'एम्पेथी' में 'तन्मयीभवन' के भी केवल एक पक्ष से ही समानता दिखाई देती है।

3. पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में 'मानसिक अंतराल'(साइकिकल डिस्टेंस) नामक सिद्धांत 'एम्पेथी' के साथ संयुक्त होकर साधारणीकरणगत 'तन्मयीभवन' की पूरी क्षमता करने में समर्थ हो पाता है।

4. साधारणीकरण सिद्धांत की पूर्णता इस बात में है कि एक ही सिद्धांत के द्वारा रसास्वाद प्रक्रिया के संपूर्ण सोपानों और घटकों के पारस्परिक संबंधों का निरूपण संभव हो जाता है। इसके अंतर्गत कवि, काव्य और सहृदय तीनों की अनुभूतियों के साधारणीकरण की विवेचना के साथ कवि से सहृदय तक के संपूर्ण सम्प्रेषण-व्यापार की व्याख्या को संभव बना दिया। भारतीय काव्यशास्त्र, विशेषकर रस-शास्त्र के अंतर्गत साधारणीकरण इतना व्यापक सिद्धांत है कि हम पाते हैं कि पाश्चात्य परंपरा में साधारणीकरण से तुलनीय कोई एक संतुलित एवं सांगोपांग सिद्धांत निर्मित नहीं हो सका है।

5. काव्यगत विभावादि के साधारणीकरण पर विचार करते हुए संस्कृत काव्यशास्त्र में विशेष से सामान्य होने की जो प्रक्रिया बतलाई गई है, उसके समान पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में 'यूनिवर्सलाइज़ेशन' और 'टाइप' सिद्धांतों का निरूपण मिलता है। परंतु पश्चिमी साहित्य की परंपरा में 'यूनिवर्सल' और 'टाइप' संबंधी मान्यता सदैव स्वीकृत नहीं रही। रोमाण्टिक आंदोलन के प्रभाव से आधुनिक युग में प्रायः 'व्यक्ति' अथवा विशेष की ही प्रतिष्ठा दिखाई पड़ती है।

6. संस्कृत काव्यशास्त्र में विभावादि को पूर्णतया सहृदय ग्राह्य होने के लिए साधारणीकरण-व्यापार द्वारा लौकिक से अलौकिक बनाने का विधान है, जिसके तुल्य पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में 'नाटकीय आभास' अथवा 'प्रतिभास' का सिद्धांत प्राप्त होता है।

7. भाव के स्तर पर साधारणीकरण व्यापार 'सत्व-रज-तम से युक्त भावों को परिशुद्ध करके सत्वोन्मुख करता है जिसे प्रायः पाश्चात्य काव्यशास्त्र के त्रासदीय विरेचन अथवा 'केथासिस' से तुलनीय माना जाता है, किंतु विवेचन से स्पष्ट है कि भावगत साधारणीकरण विरेचन की तुलना में अधिक विधेयात्मक है।

8. साधारणीकरण में जहाँ व्यक्ति संबंधों से मुक्ति की बात कही गई है, उसकी तुलना में पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्रतिपादित 'निर्वैयक्तिकता' को उपस्थित किया जा सकता है किंतु दोनों की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति-संबंधों के विकल्पों का विवेचन संस्कृत काव्यशास्त्र में अधिक सूक्ष्मता और गहराई के साथ किया गया है, साथ ही यह विवेचन 'निर्वैयक्तिकता' की अपेक्षा कम निषेधात्मक है।

9. साधारणीकरण के अंतर्गत भाषा के काव्यात्मक प्रयोग को जो महत्व प्राप्त है, उसकी गूँज पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी यत्र-तत्र सुनाई पड़ती है, किंतु भारतीय काव्यशास्त्र में भाषा के काव्यात्मक रूप का 'व्यंजना व्यापार' के नाम से जिस प्रकार स्पष्टतः निर्देश किया गया है, उस प्रकार की स्पष्टता पाश्चात्य काव्यशास्त्र में सुलभ नहीं है।

10. पाश्चात्य काव्यशास्त्र से साधारणीकरण की तुलना करते समय यह तथ्य ध्यातव्य है कि साधारणीकरण एक निश्चित दर्शन की उपज है। शैवाद्वैत तथा शांकर अद्वैत जैसे व्यापक जीवन-दर्शन से ही साधारणीकरण जैसे समर्थ काव्य-सिद्धांत की उत्पत्ति संभव है। भारतीय दर्शन की इस विशिष्ट पृष्ठभूमि के बिना साधारणीकरण की सांगोपांगता का रहस्य समझना कठिन है।

8.11 समाहार तथा निष्कर्ष

साधारणीकरण का सिद्धांत भारतीय काव्य-दर्शन की मौलिक उपलब्धि है। इस सिद्धांत के द्वारा काव्यास्वाद और काव्य-सम्प्रेषण के मौलिक प्रश्न का मनोवैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत किया गया है। साधारणीकरण में असाधारण को साधारण करने की क्रिया का अर्थ है विशिष्ट को सर्वसामान्य, साधारण, सर्वजनीन बनाने का कवि का प्रयास। पाठक या दर्शक का कवि अनुभूति से साक्षात्कार जिस

प्रक्रिया द्वारा होता है वह साधारणीकरण से ही संभव होती है। इस सिद्धांत के प्रथम पुरस्कर्ता भट्टनायक हैं और इस विषय का विवेचन करने वाले संस्कृत आचार्यों में भट्टनायक, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ तथा पंडितराज जगन्नाथ का नाम उल्लेखनीय है। पाश्चात्य काव्य-चिंतन में 'थ्योरी ऑफ एम्पेथी', 'थ्योरी ऑफ यूनिवर्सलाइज़ेशन' जैसे अनेक सिद्धांत होते हुए भी साधारणीकरण के समकक्ष कोई सिद्धांत नहीं है - यह बात तुलना से स्पष्ट है।

हिंदी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण पर नवीन और मौलिक चिंतन किया है। इसी चिंतन परंपरा को एक खास ढंग से आगे बढ़ाते हुए डॉ. नगेन्द्र ने साधारणीकरण की मनोवैज्ञानिक व्याख्या में बहुत से प्रश्नों का समाधान करते हुए कहा है कि साधारणीकरण 'कवि की अनुभूति' का होता है। साधारणीकरण में भाषा का भावमय प्रयोग होता है। साधारणीकरण और काव्य-भाषा के संबंध को लेकर आ.शुक्ल, अज्ञेय, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि ने गहराई से विचार किया है और माना है कि साधारणीकरण का प्रश्न आज सम्प्रेषण का प्रश्न है। आज के जीवन की जटिल अनुभूति का सम्प्रेषण कवि-कर्म की सबसे बड़ी चुनौती है। हिंदी के प्रगतिवादी और नयी कविता के आलोचकों-कवियों ने रस को अस्वीकार करते हुए भी न केवल साधारणीकरण की महत्ता को स्वीकार किया है बल्कि काव्य-भाषा प्रतिमान को इसके साथ जोड़कर इसे एक नया अर्थ-संदर्भ दे दिया है। रोचक बात यह है कि आज भी साधारणीकरण और काव्य-सम्प्रेषण व्यापार पर जीवंत बहस जारी है।

8.12 शब्दावली

व्यक्ति-संसर्ग	-	व्यक्तिगत लगाव
विभावन	-	साहित्य में प्रदर्शित भाव का पाठक या दर्शक द्वारा अनुभव
तादात्म्य	-	साहित्यकार की अनुभूति से साक्षात्कार या तदाकार हो जाना, कवि और पाठक की भावभूमि की अद्वैतता
चाकचक्य	-	चमचमाहट, उज्ज्वलता, शोभा
शास्त्रबद्ध जड़ता	-	शास्त्र की लीक अथवा रूढ़ियों का अंधानुकरण
पुनर्नवा	-	पुनः नया करने वाला
प्रेष्य	-	सम्प्रेषणीय

8.13 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. 'साधारणीकरण' से तात्पर्य स्पष्ट करते हुए उसके महत्व का प्रतिपादन कीजिए।
2. संस्कृत तथा हिंदी आचार्यों के साधारणीकरण से संबंधित चिंतन पर प्रकाश डालिए।
3. रस चिंतन पर नए संदर्भों में विचार के परिप्रेक्ष्य में साधारणीकरण का विवेचन कीजिए।
4. पाश्चात्य साहित्य में काव्यानुभूति की प्रक्रिया संबंधी सिद्धांतों पर विचार कीजिए।
5. पश्चिम के काव्यानुभूति प्रक्रिया संबंधी सिद्धांतों की तुलना साधारणीकरण से कीजिए।
6. टिप्पणी लिखिए -
   (क) साधारणीकरण और काव्य-भाषा
   (ख) भावकत्व व्यापार का स्वरूप
   (ग) साधारणीकरण से भट्टनायक का तात्पर्य

इकाई 9 काव्य का अधिकारी

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 काव्य के अधिकारी के विषय में चर्चा की आवश्यकता
9.3 काव्य का अधिकारी कौन?
9.4 काव्य के अधिकारी के लिए भारतीय काव्यशास्त्र में प्रयुक्त शब्द
9.5 भारतीय काव्यशास्त्र में सहृदय संबंधी चिंतन
  9.5.1 भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र'
  9.5.2 आनंदवर्धन
  9.5.3 अभिनवगुप्त
9.6 पश्चिमी काव्यशास्त्र में 'काव्य का अधिकारी'
9.7 काव्य का अधिकारी और आलोचक
9.8 निष्कर्ष
9.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

9.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

- 'काव्य के अधिकारी' शब्द से तात्पर्य बता सकेंगे; तथा
- भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्य के अधिकारी पर हुए चिंतन की जानकारी दे सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

इस खंड के पिछले दो पाठों में आपने रस के स्वरूप, निष्पत्ति, साधारणीकरण आदि के बारे में पढ़ा है। इन्हें पढ़ते समय 'सहृदय', 'सामाजिक', 'नागरक' आदि जैसे कई शब्द आपके सामने बार-बार आए होंगे और इन शब्दों का सामान्य अर्थ भी आपको पता चला होगा। ये शब्द या अन्य ऐसे ही कुछ शब्द कविता या नाटक के पाठक/दर्शक के लिए प्रयुक्त होते हैं। ये काव्यशास्त्र के बीज (महत्वपूर्ण) शब्द हैं क्योंकि संपूर्ण साहित्य सृजन इन्हीं को लक्ष्य में रखकर चलता है। प्रस्तुत इकाई में आप इन्हीं शब्दों के विषय में - इनसे जुड़ी अवधारणाओं और उनमें निहित चिंतन के विषय में - पढ़ेंगे। रोचक बात यह है कि अब तक आपने साहित्य सिद्धांतों के विषय में, साहित्य के सम्प्रेषण के विषय में पढ़ा है किंतु प्रस्तुत पाठ का संबंध साहित्य के पाठक अथवा दर्शक से है। साहित्य को पढ़ने, जानने, समझने का अधिकारी कौन है, क्यों है, कैसा है? यही इस पाठ का विवेच्य विषय है।

9.2 काव्य के अधिकारी के विषय में चर्चा की आवश्यकता

साहित्य का स्वरूप, कारण, उद्देश्य और जीवित अथवा आत्मा क्या है आदि प्रश्नों पर विचार-मंथन के साथ ही जो प्रश्न बराबर साहित्य-चिंतकों की दृष्टि में रहा है वह है काव्य के अधिकारी का प्रश्न। रचनाकार की साधना - साहित्य रचना - किसके लिए है? उसका गृहीता कौन है? कैसा है और कैसा होना चाहिए? रचना का सम्प्रेषण किसमें होता है? इसपर चर्चा प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में होती रही है। कविता या नाटक के पाठक या प्रेक्षक का प्रश्न आचार्यों की दृष्टि से कभी ओझल नहीं हुआ। हो भी नहीं सकता था क्योंकि रचना की संपूर्ण सार्थकता, उसका व्यष्टि से समष्टि रूप हो पाना, कृति का व्यक्ति से समाज का बन पाना उसके पाठक द्वारा ही संभव होता है। रचनाकार का संपूर्ण उद्यम उसी के लिए है। साहित्य चिंतकों का संपूर्ण विवेचन उसी की ओर निर्दिष्ट है, काव्य के आस्वाद का पूरा विधान उसी को केंद्र में रखकर किया गया है। रस-निष्पत्ति, अलंकार की चमत्कृति, वक्र उक्ति के वैचित्र्य, रीति के सौंदर्य, औचित्य के सामंजस्य एवं ध्वनि की व्यंजना की प्रतीति किसे होती है? पाठक या दर्शक को ही तो। काव्य में जिस रमणीयार्थ का प्रतिपादन होता है उसका गृहीता तो पाठक/प्रेक्षक ही है। रचना इस गृहीता के चित्त में अर्थ ग्रहण करती है और इसी से जीवन पाती है। पाठक के हृदय, रुचि और स्मृति में विद्यमान रहकर ही तो वह कालातीत बनती है अन्यथा एक बार रचनाकार द्वारा

सृजित हो जाने के बाद समाप्त हो जाए। रचना कालजयी है या नहीं यह तो गृहीता द्वारा ही तय होता है। रचना के औदात्य के प्रतिमान भी तो भाव या गृहीता को दृष्टि में रखकर बताए गए हैं। यह गृहीता ही काव्य का अधिकारी है।

अतः काव्य के अधिकारी की चर्चा देश-विदेश के साहित्य-चिंतन की प्रक्रिया का अनिवार्य अंग रही है। काव्य के दुष्प्रभाव से चिंतित आचार्यों की दृष्टि में भी और काव्य के प्रतिमान निर्धारित करने वाले आचार्यों की दृष्टि में भी। काव्य की गुणवत्ता, श्रेष्ठता, महत्ता आदि को भी उसके गृहीता के कोण से ही आँका गया है।

9.3 काव्य का अधिकारी कौन?

प्रश्न यह है कि साहित्य की रचना का गृहीता कौन है? इसे ग्रहण करने का अधिकारी कौन है? यह प्रश्न हर युग में किसी न किसी रूप में उठता रहा है और हर बार इस बात को रेखांकित किया गया है कि हर व्यक्ति काव्य का अधिकारी नहीं हो सकता। साहित्य, संगीत कला के क्षेत्र में प्रवेश के लिए व्यक्ति में कुछ संस्कार, कुछ योग्यताएँ, कुछ सामाजिक नियमों, अनुशासनों के पालन का लोक-सम्मत विधि-विधान चाहिए। आधुनिक भाषा में कहें तो हम में उसकी 'तमीज' होनी चाहिए कि 'अहं' का समर्पण करते हुए उसे समग्र भाव से ग्रहण करने के लिए, उसके मर्म को समझने के लिए प्रयासशील हो। मर्म की महिमा जानने की कोशिश से ही संस्कार पड़ते हैं और संस्कारवान व्यक्ति ही संस्कारी अथवा काव्य का अधिकारी कहलाता है। तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में 'रामकथा अधिकारी चीन्हा' की बात बार-बार आती है। जो भक्त है वही राम-कथा का गुण-ग्राही है, उसी को राम-कथा जानने-समझने-कहने-सुनने का अधिकार है।

'आस्थावान को ही ज्ञान प्राप्त होता है' यह लोकोक्ति काव्य के आस्वादन के अधिकारी के संदर्भ में भी लागू है। लोक में बार-बार यह दोहराया जाता रहा है कि 'अरसिकेषु काव्य निवेदनम् मा कुरु मा कुरु, मा कुरु' अर्थात अरसिक या हृदयहीन व्यक्ति से रमणीयार्थ को समझने का निवेदन नहीं करना चाहिए क्योंकि वह तो उसके मर्म को समझ ही नहीं सकता, उसके पास काव्य-ग्रहण-क्षमता के संस्कारों का अभाव होता है इसीलिए लोक और शास्त्र दोनों ही परंपराओं में काव्य या ज्ञान के अधिकारी का महत्व रहा है संस्कारहीन व्यक्ति का आदर नहीं रहा। 'साहित्य संगीत कला विहीना। साक्षात पशु पुच्छ विषाण हीना' जैसी उक्तियाँ लोक में काफी प्रचलित रही हैं। दूसरी ओर, काव्यशास्त्र में काव्य के अधिकारी की चर्चा सहृदय, प्रमाता, सामाजिक, नागरक जैसी अवधारणाओं के माध्यम से बार-बार उठती रहीं।

9.4 काव्य के अधिकारी के लिए भारतीय काव्यशास्त्र में प्रयुक्त शब्द

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के अधिकारी के लिए समय-समय पर अनेक शब्दों का प्रयोग होता रहा है - सहृदय, सुमनस, प्रमाता, नागरक, सामाजिक, भावक, प्रेक्षक-दर्शक, आस्वादक, रसज्ञ या रसिक, मर्मज्ञ, गृहीता, भोक्ता, श्रोता आदि। इन अवधारणात्मक विशिष्ट शब्दों में मानव-चिंतन का विशिष्ट इतिहास और समाजशास्त्र निहित है। एक-दूसरे के पर्याय रूप में प्रयुक्त इन शब्दों के अर्थ पर ध्यान दें तो पाते हैं कि हमारी साहित्य चिंतन परंपरा साहित्य के पाठक से कुछ अपेक्षाएँ करती रही हैं। इनमें से कुछ शब्दों में निहित अर्थ को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

1. **सहृदय** : सहृदय का अर्थ है, हृदय सहित यानी वह व्यक्ति जिसका हृदय दूसरों के हृदय से संवाद कर सके। वह व्यक्ति जिसका हृदय या मनोनुकुर दर्पण की तरह स्वच्छ हो, विमल प्रतिभानशाली हो, परंपरा के ज्ञान से सम्पन्न तथा संस्कारी हो।

2. **सुमनस** : सुमनस का अर्थ है - सुंदर मन वाला, यानी निर्मल मन वाला। राग-द्वेष विकृतियों से मुक्त और विविध कलाओं में पारंगत व्यक्ति जो यह माने कि विद्या वही है जो हमें मुक्त करती है, अज्ञान के बंधनों को काटती है। ऐसा वेद-पाठी 'सुमनस' होता था।

3. **प्रमाता** : भारतीय काव्यशास्त्र में सुमनस का पर्यायवाची शब्द है - प्रमाता जिसका अर्थ प्रकृष्ट मन वाला, उदात्त उच्च विचार की भूमि पर पहुँचा हुआ व्यक्ति। साहित्य के अध्ययन-मनन से बने एक बेहतर व्यक्ति का प्रतिमान है 'प्रमाता'। यह कवि की तरह बहुज्ञ और प्रतिभावान होता है। अतीत की 'स्मृति', वर्तमान की 'मति', भविष्य बुद्धि 'प्रज्ञा' तीनों इसमें विकसित होती हैं। इस प्रमाता

को ही काव्य की समीक्षा या समालोचना पर अधिकार है क्योंकि प्रमातत्व से उसका ज्ञान लोक और शास्त्र, दोनों के विवेक से सम्पन्न होता है।

4. **नागरक** : 'नागर' का अर्थ है चतुर, प्रबुद्ध-प्रवीण। वह व्यक्ति नागरक कहलाता था जो कला मर्मज्ञ, पारखी और कला को सराहने की क्षमता से सम्पन्न हो। प्राचीन राज-दरबारों की काव्य-गोष्ठियों में भाग लेने का अधिकार बौद्धिक विकास से सम्पन्न नागरक को ही होता था।

5. **सामाजिक** : भारतीय काव्यशास्त्र ने प्राचीन काल से ही समाज को प्रधानता दी, व्यक्ति को नहीं। व्यक्ति अपनी सत्ता को समाज में मिलकर ही आदर पाता रहा। 'सत्य, शिव, सुंदर' तीनों की समन्वित साधना ही समाज के मंगल के लिए कवि और पाठक के साध्य रहे। साहित्य के गृहीता के लिए 'सामाजिक' शब्द के प्रयोग में यही लोक-चेतना समाहित है। लोक की, जन-जन की कष्ट और पीड़ा को समझने की संवेदनशीलता से सम्पन्न व्यक्ति ही सामाजिक है। उसका हृदय लोक हृदय है, वह दूसरों के दुख में दुखी और दूसरों के सुख से प्रसन्न होने में समर्थ है। प्राचीनकाल का यह सामाजिक ही परवर्ती कालों में 'कला जीवन के लिए' सिद्धांत का साधक बना। हिंदी के आधुनिक-काल के भारतेंदु युग में अनेक 'सभा और समाज' स्थापित हुए। इनके भीतर से नया सामाजिक तैयार हुआ। इसी सामाजिक को आगे चलकर मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र या साहित्य के समाजशास्त्र में स्थान मिला। सामाजिक हमारे साहित्य के अध्येता का चिंतक या पर्याय हो गया।

6. **प्रेक्षक** : प्रेक्षक या दर्शक 'नाट्यशास्त्र' की विशिष्ट अवधारणा का संकेत करने वाला शब्द है जो नाट्य-रस के आस्वादक, भोक्ता, गृहीता के लिए प्रयुक्त होता है। नाट्य-धर्मी और लोक-धर्मी परंपरा का ज्ञाता रंग-संस्कारवान व्यक्ति ही नाटक का अधिकारी प्रेक्षक होता है।

9.5 भारतीय काव्यशास्त्र में 'सहृदय' संबंधी चिंतन

संस्कृत के आचार्यों ने रस के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए 'सहृदय' की अवधारणा पर विस्तार से गंभीर चर्चा की है। इन आचार्यों को मूल विचार यह है कि काव्यगत अर्थों को विभावत्व प्राप्त ही रसिक की अनुभूति की दृष्टि से होता है। ऐसी स्थिति के कारण रसिक या पाठक या सामाजिक रस-प्रयोग से बाहर नहीं रह सकता। काव्यशास्त्र तथा अन्य शास्त्रों ने 'काव्य का अधिकारी' या सहृदय को परिभाषित करने के लिए अलग-अलग सूत्र संकेत दिए हैं। उन सूत्रों को जोड़कर 'काव्य के अधिकारी' का आकार-प्रकार खड़ा किया जा सकता है। कृति, कृती और कृति का ग्राहक तीन का सामंजस्य न हो तो कृति का कोई सामाजिक अर्थ संदर्भ ही नहीं बनता है। कृतिकार की कृति और ग्राहक को जोड़ने वाले सूत्र के रूप में ही साधारणीकरण की अवधारणा विकसित हुई। साधारणीकरण का अर्थ न तो समूहीकरण है, न सामान्यीकरण। इसका अर्थ - कृति-कृतिकार और ग्राहक की सहज-उन्मुक्त साझेदारी है।

9.5.1 भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र'

'नाट्यशास्त्र' के प्रणेता भरतमुनि ने प्रेक्षक या सामाजिक को नाटक का अपरिहार्य अंग माना है। नाट्य में कवि, काव्य, नायक, नट के साथ सामाजिक को भी समाविष्ट किया गया। वस्तु-नेता-रस के त्रिकोण में केंद्र रस का भोक्ता या सहृदय ही है। नाट्य-सिद्धांत के अनुसार रूपक (नाटक) के तीन तत्व हैं - वस्तु, नेता, और रस। यह विधान अपने क्रम में उत्कर्षमूलक है। कथावस्तु से ज्यादा महत्व है नायक चेतना का कथावस्तु और नायक दोनों से ज्यादा महत्व है रस का। पूरा विचार आरंभ से ही इस बात पर केंद्रित रहा है कि रस क्या है, रस निष्पत्ति कैसे होती है, कितने भाव या रस हैं और रंगमंच का पूरा विधान रस को कैसे प्रस्तुत कर पाता है। अभिनेता और अभिनय से दर्शक या प्रेक्षक का साधारणीकरण व्यापार कैसे घटित होता है और रस का स्वरूप क्या है? नाट्याचार्यों की एक विस्तृत परंपरा दर्शक या प्रेक्षक या सामाजिक की दृष्टि से ही नाट्य-प्रभाव या नाटक के आस्वाद पर विचार करती रही है। नाटक में सभी शिल्प, सभी कलाओं का समाहार लोकजीवन के सभी पक्षों का ग्रहण रहता है। परंतु उसकी सफलता-असफलता का निर्णायक नाटककार या निर्देशक या अभिनेता को न मानकर प्रेक्षक या सामाजिक को ही माना गया है।

भारतीय रसशास्त्र-सौंदर्यशास्त्र आरंभ से ही काव्यत्व सौंदर्य-गुण पर विभाव दृष्टि और प्रमाता की दृष्टि से विचार करता रहा है। काव्यानुभूति-रसानुभूति में भाव-विभाव की, स्थायी भाव की अपेक्षा रहती है। स्थायी-भाव सहृदय का गुण है। स्थायी वासना (इच्छा) के कारण सहृदय को 'सवासन' भी कहा गया

है। 'सुम' नामक अनुभूति यानी सौंदर्यानुभूति प्रमाता या भावुक के मन में होती है - वह किसी न किसी भीतरी ५. बाहरी विभाव (कारण) का परिणाम। भारतीय काव्यशास्त्र विभावन-व्यापार पर सदियों तक चिंतन-मनन-विवेचन करता रहा है।

प्राचीन साहित्य-संगीत कलाओं में 'सामाजिक' पर विशेष रूप से ध्यान केंद्रित था। आ.हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद' शीर्षक पुस्तक में 'दर्शक' की और उसके नाट्य-संस्कार की विशेष रूप से चर्चा की है। प्राचीन भारत में प्रेक्षागृह बहुतायत में थे और 'इन प्रेक्षागृहों में चाहे वे स्थायी हों या अस्थायी अभिनय देखने के लिए जाने वाले दर्शकों में छोटे-बड़े, शिक्षित-अशिक्षित कभी हुआ करते थे, पर ऐसा जान पड़ता है कि अधिकांश दर्शक रसशास्त्र के नियमों के ज्ञाता हुआ करते थे। कालिदास, हर्ष आदि के नाटकों में अभिरूप-भूमिष्ठा और गुणग्राहिणी परिषद का उल्लेख है। भारतीय जीवन की यह विशेषता रही है कि ऊँची से ऊँची चिंता जन-साधारण में घुली पाई जाती है। यद्यपि शास्त्रीय विचार और तर्क-शैली सीमित क्षेत्र में परिचित होती थी; किंतु सिद्धांत सर्वसाधाण में ज्ञात होते थे।' (पृ.107) साहित्य कलाओं में 'सर्वसाधारण'की सत्ता का अर्थ है - सामाजिकता का विस्तार, हृदय-संवाद का लोक पक्ष। अपने हृदय को लोक-हृदय में मिला देने की कला ही सृजन की ताकत है, भाव-गरिमा है। लोक (लोग) जाग्रत था और रचनाकार सुविज्ञ। रचनाकार की कारयित्री प्रतिभा से भावक या प्रेक्षक की भावयित्री-प्रतिभा तादात्म्य स्थापन में समर्थ थी। कैसे समर्थ थी? क्यों समर्थ थी? इसका उत्तर आ.हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में - 'नृत्य और अभिनय संबंधी मूल सिद्धांत भी उन दिनों सर्वसाधारण में परिचित रहे होंगे। संस्कृत नाटकों और शास्त्रीय संगीत और अभिनय के द्रष्टा को कैसा होना चाहिए इस विषय में 'नाट्यशास्त्र' (भरतमुनि 27-51 और आगे) ने स्पष्ट रूप से कहा है कि (दर्शक) उसकी सभी इन्द्रियाँ दुरुस्त होनी चाहिए, ऊहापोह में उसे पटु होना चाहिए (अर्थात् जिसे आजकल 'क्रिटिकल ऑडिएंस' कहते हैं - ऐसा होना चाहिए) दोष का जानकार और रागी होना चाहिए। जो व्यक्ति शोक से शोकान्वित न हो सके और आनंदजनक दृश्य देखकर आनंदित न हो सके अर्थात् जो संवेदनशील न हो, उसे 'नाट्यशास्त्र' दर्शक या प्रेक्षक का पद नहीं देना चाहता (27-52) यह जरूर है कि सभी की रुचि एक-सी नहीं हो सकती। वयस अवस्था और शिक्षा-भेद से नाना भाँति की रुचि और अवस्था के अनुसार भिन्न विषय के नाटकों और अभिनयों का प्रेक्षकत्व निर्दिष्ट किया गया है। जवान आदमी शृंगार रस की बातें देखना चाहता है, सहृदय कला-नियमों (समय) के अनुकूल अभिनय को पसंद करता है, अर्थपरायण लोग अर्थ चाहते हैं, वैरागी लोग विरागोत्तेजक दृश्य देखना चाहते हैं, शूर लोग वीर रस, रौद्र रस आदि पसंद करते हैं, वृद्ध लोग धर्माख्यान और पुराण के अभिनय में रस पाते हैं (27-57-58), फिर एक ही तमाशे के सभी तमाशबीन कैसे हो सकते हैं। फिर भी जान पड़ता है कि व्यवहार में इतना कठोर नियम नहीं पालन किया जाता होगा और उत्सवादि के अवसर पर जो कोई अभिनय आदि को देखना पसंद करता होगा वही जाया करता होगा परंतु कालिदास आदि जब परिषद की निपुणता और गुण-ग्राह्यता की बात करते हैं तो निश्चय ही कुछ चुने हुए सदस्यों की बात करते हैं। (प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ.107)

9.5.2 आनंदवर्धन

युग-परिवर्तन के साथ भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' का सामाजिक अथवा प्रेक्षक ही कश्मीरी शैव आचार्यों के यहाँ आकर 'सुमनस', 'प्रमाता' अथवा 'सहृदय' में रूपांतरित हो गया। शैवाद्वैत चिंतन में 'सहृदय' विशेष अवधारणा में आकार पाकर पारिभाषिक शब्द हो गया। ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन की दृष्टि में 'सहृदय-हृदयाल्लादि-शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम।।' शैवाद्वैत-चिंतन में 'सहृदय' शब्द का प्रयोग 'संविद' या चित् के लिए हुआ जिसमें रागात्मकता सक्रिय रहती है। शैवाचार्यों का मन 'सहृदय' शब्द में इतना रमा है कि उन्होंने अपनी कृतियों का नाम रखा है - 'सहृदयालोक', 'सहृदय-हृदय-दर्पण' आदि। इसका प्रमाण यह है कि बहुत से प्राचीन ग्रंथों में 'ध्वन्यालोक' को 'सहृदयालोक' कहा गया है। पादाचार्य अभिनवगुप्त ने 'लोचन' की टीका में अपार-श्रद्धा भाव के साथ आनंदवर्धन को 'सहृदय चक्रवर्ती' कहा है। मूल बात यह कि 'सहृदय' संबंधी अवधारणा के निर्माण और प्रचलन के केंद्र में रहे हैं - आनंदवर्धन। उन्होंने ही 'सहृदय' संबंधी अवधारणा का व्याख्यान-विवेचन भी किया है।

आनंदवर्धन ने यह प्रश्न उठाया है कि 'सहृदयत्व' क्या है? क्या रस-भाव की अपेक्षा न करके काव्य के आश्रित संकेत विशेष की जानकारी रखना ही 'सहृदयत्व' है? अथवा रस-भाव आदि काव्य के स्वरूप के गहन ज्ञान की मर्मज्ञता ही 'सहृदयत्व' है। प्रश्न उठा कि रस क्या है और रसज्ञता क्या है। काव्य-मर्मज्ञता ही रसज्ञता है। काव्य-मर्मज्ञता का अर्थ-संदर्भ वाग्देवी से जुड़ा है। वाग्देवी या सरस्वती ही सहृदय-व्यापार की देवी है। वाग्देवी ही जातीय-प्रतिभा है, जातीय संवेदना है, जातीय प्रज्ञा है और जातीय स्मृति है। इस वाग्देवी के मर्म को ग्रहण कर पाना ही 'सहृदयता' है। इसका स्थान मन और

चित्त, दोनों से ऊपर है, स्व-पर की चेतना से मुक्त मन पहले साधारणीकरण करता है। तदंतर अपने आपको भाव प्रवाह में निमज्जित कर देता है। सहृदय में स्मृति की घनता और धी (बुद्धि) - भावयित्री प्रतिभा का स्फुरण होता है। इस स्फुरण में 'सृष्टि' का नया अर्थ-रस प्राप्त होता है। इसलिए रसज्ञता ही सहृदयत्व है। यह सहृदय प्रतिभा-विशेष है, कवि की कारयित्री प्रतिभा की भाँति भावक की **'भावयित्री प्रतिभा'** इसी का नाम है।

दरअसल, ध्वनिवादी आचार्यों ने व्यंग्यार्थ को ग्रहण करने के लिए सहृदय में प्रतिभा-विशेष को आवश्यक माना है। अभिनवगुप्त के मत से 'प्रतिपत्तृ प्रतिभा सहकारित्वमस्माभि द्योतनस्य प्राणत्वेन उक्तम्' अर्थात् प्रतिभा का सहकारत्व ही व्यंजना का प्राण है। पूरी परम्परा के चिंतन को सहेजने के बाद मम्मट ने 'सहृदय' के लिए 'प्रतिभाजुष' शब्द का प्रयोग किया। व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए प्रतिभा अनिवार्य है। प्रतिभा के तीन रूप हैं - स्मृति, मति, प्रज्ञा। प्रतिभा ही 'वासना' कहलाती है और नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा इसी का नाम है। प्रतिभा या वासना के बिना रस-प्रतीति संभव ही नहीं है - **सवासन** या प्रतिभावान ही सहृदय हो सकता है - वैयाकरण को सहृदय जैसी रस-प्रतीति नहीं हो सकती। जो सवासन नहीं है वे काव्य कौर नाटक को भोग नहीं सकते। यही कारण है कि ध्वनिवादी आचार्यों ने व्यंग्यार्थ को ग्रहण करने के लिए प्रतिभा की महत्व-प्रतिष्ठा की है। रस का आधार है - व्यंजना-व्यापार एवं 'सवासन' का अर्थ है - संस्कार-विशेष से परिमार्जित प्रतिभा। इस प्रकार लोक में रमते हुए सहृदयता एक सामाजिक तैयारी है। इस संस्कार से अपना सुख-दुःख बिसर जाता है। कालिदास जब सीता-निर्वासन का प्रसंग लाते हैं तो कहते हैं कि 'नृत्य मयूरा.....रुदितं वनेपि' मोरों ने नाचना छोड़ दिया, वृक्षों से कुसुमों को झटका दिया, हरिणी ने मुँह में ली हुई घास गिरा दी। सीता के दुःख में दुःखी होकर वन फूट-फूटकर रो पड़ा। सीता के दुःख में मानव और प्रकृति एकरूप हो गए। 'लोक-हृदय' का यहाँ अनुपम विस्तार है। सहृदय तक कवि का यह भाव कैसे आता है? भीतर तक भीगने से आता है। कालिदास के लिए सहृदयता 'पर्युत्सुकीभवन' है, वह दुःख-सुख से आँख सेंकना नहीं है। हर रचनानुभव में नया संस्कार होता है, हमारा नया जन्म हो जाता है, पाठक कुछ और ही हो जाता है। सीता के भाव में रमने का अर्थ भोगना नहीं है - सीता में खो जाना है। अर्थात् रमना दूसरों के लिए होता है। 'सहृदयता' की अवधारणा में भारतीय विश्व-दृष्टि की अवधारणा है। ध्वन्यालोककार ने प्रथम आलोक की बारहवीं कारिका की वृत्ति में 'सहृदय' के लिए 'सचेतस' पर्याय की व्याख्या की है जिनकी आत्मा सतही अर्थ से संतुष्ट नहीं होती है। वे ही सचेतस हैं 'सहृदय' हैं। अर्थात् मर्मभूत अर्थ को प्राप्त करने की बेचैनी ही सहृदयता है। वक्रोक्तिजीवितकार **कुन्तक** ने 'सहृदय' का अर्थ किया - काव्यार्थविद्। काव्यार्थ समझने का भाव क्या है? आंतरिक अर्थ-अनुगूँज को ग्रहण करने की क्षमता। इसीलिए काव्यार्थ 'स्वपरिस्पन्द सुंदर' होता है। काव्यार्थ एक अलग साधना है, वह योगियों से नहीं सधता, चित्तवृत्तियों के संस्कार से 'सहृदय' को सधता है। योगी और प्रेमी की संलग्नता को जो एक-साथ साधे वह 'सहृदय' है।

यही कारण है कि भारतीय काव्यशास्त्र का सामाजिक, रसज्ञ, भावक, प्रेक्षक, भोक्ता, काव्यार्थविद्, प्रमाता, सुमनस - कामशास्त्र का 'नागरक' नहीं है, न कलाशास्त्र का 'विलक्षण' व्यक्ति। कलाशास्त्र में आचार्यत्व चाहिए - पर काव्य में विदग्धता। विदग्धता में अपने को अनुभव के ताप में झोंककर रस पाने का भाव है। काव्यार्थ ही 'सहृदय-हृदय संवाद' है। संवाद में समंजस भाव है - कुछ कहने का मन, कुछ सुनने का मन। संवाद का अर्थ है - द्वैत समाप्त कर अद्वैत की ओर बढ़ना। दो का एक हो जाना ही कनविन्सिबिलिटी है। जब कौशल्या 'उत्तररामचरित' में लव के चेहरे को देखती है तो कहती है कि अरे यह तो बहू (सीता) के चहरे से मिलता है - वैसा ही होंठों की बनावट, वैसे ही कान - 'सैवोष्ठमुद्रास स च कर्णपाशः' कभी यह मेरे रघुनंदन से मिलता है - यह मिलना ही संवाद है, सादृश्य नहीं है - बार-बार एकत्व के अनुसंधान की आकांक्षा बनी रहे यही संवाद है। साहित्य के मर्म के ग्रहण के समय 'हृदय-संवाद' होता है। शूद्रक के नाटक 'मृच्छकटिक' के एक प्रकरण में धाई मदनिका ने रोहसेन को बताया है कि वसन्त सेना तुम्हारी माँ है, एक प्रश्न करता है 'जइ मे जाणणी कहं अलंकिदा' यदि मेरी माँ है तो इतने आभूषणों से क्यों लदी है? तब केवल इस मर्मबेधी बात पर वसन्तसेना के गहने न्योछावर नहीं होते - संसार भर की समृद्धि का खोखलापन मिट्टी की गाड़ी पर न्योछावर हो जाता है। एक तड़प के साथ मातृत्व जागता है और एक विराग के साथ समृद्धि का राग जल जाता है।

9.5.3 अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त को भारतीय परंपरा 'सहृदय' विचार-दर्शन का प्रवर्तक आचार्य मानती है। उन्होंने 'सहृदय' की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'अधिकार चारु विमल प्रतिभान शालिहृदयः।' वह 'विमल प्रतिभान-

शाली' होता है। वे इसी के साथ 'अधिकारी' शब्द का प्रयोग करते हैं। पूरा बल इस विचार पर है कि सहृदय ही काव्य का अधिकारी है - हर ऐरा-गैरा व्यक्ति नहीं। वह अधिकारी इसलिए है कि उसमें काव्यार्थ-ग्रहण की क्षमता है। इस क्षमता का नाम ही 'मानसी साक्षात्कारात्मिका शक्ति' है। इस शक्ति द्वारा वह काव्य से मानस-साक्षात्कार करता है, अर्थात् पूरे विभावादि का मानस-बिंब उसके सामने आ जाता है। आज का विद्वान इस शक्ति को 'कल्पना' कहता है, प्राचीन आचार्य इसे ही 'भावना' कहते रहे हैं।

सहृदय कौन?

प्रश्न उठता है कि सहृदय कौन है? अभिनवगुप्त का उत्तर है - 'सहृदयमिति। येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवन योग्यता ते सहृदय संवाद भाजः सहृदयाः। यथोक्तम्

योऽर्थो हृदय संवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना।। इति।।

अर्थात् सहृदय वे हैं जिनका हृदय-दर्पण काव्य के गहन अनुशीलन के अभ्यास से निर्मल हो गया है और इसलिए उस हृदय-दर्पण में वर्णनीय विषय के साथ तन्मय होने की क्षमता आ गई है। वे ही काव्यार्थ के साथ अपने हृदय का संवाद स्थापित करने वाले सहृदय है। जैसा कि कहा गया है कि हृदय से हृदय मिलाने वाला जो अर्थ होता है उसी का भाव रस का उन्मीलक होता है। जैसे सूखे काठ में जरा-सी आग रख दें तो वह धधक उठती है, वैसे ही अर्थ में रस के प्रकाश की तैयारी रहती है। किंतु अभिनवगुप्त के लिए 'सहृदय' का 'विमल प्रतिभानशाली' होना ही पर्याप्त नहीं है वह कवि-हृदय के समान हृदय वाला भी हो तभी तो उसमें 'तन्मयीभवन' तथा 'हृदय-संवाद' की सामर्थ्य होगी। भरतमुनि ने भी इसी तरह की बात कही थी कि 'सहृदय' हृदय संवादी होता है। 'तन्मयीभवन' का अर्थ है स्व-तद्रूपता को छोड़कर पर-तद्रूपता को प्राप्त होना। देश-काल नियति के संकुचित बंधनों से मुक्त होकर काव्यार्थ ग्रहण करना। कवि और सहृदय का एकात्म्य स्थापित हो जाना।

विद्वानों ने अभिनवगुप्त के 'सहृदय' की तुलना भोज के 'रसिक' से की है। भोज का रसिक एक विशिष्ट ढंग का भावक है - उसकी रसिकता का वैशिष्ट्य मानव-व्यक्तित्व के उत्तमांश से जुड़ा है। अभिनव का सहृदय काव्य-विशेष के हृदय-संवाद तक ही परिसीमित है 'सर्वस्व न सर्वत्र न हृदय संवादः' अर्थात् शृंगार रस के लिए जो सहृदय है वही व्यक्ति वीर रस के लिए अहृदय हो सकता है। परंतु ऐसे व्यक्ति को सहृदय-पद से वंचित कर देना उचित नहीं होगा। सार-संक्षेप यह कि 'सहृदय' की अवधारणा से कठिनतर है हृदय-संवाद की अवधारणा। क्योंकि सहृदय होकर 'हृदय-संवाद' करना सबसे कठिन काम है।

9.6 पश्चिमी काव्यशास्त्र में 'काव्य का अधिकारी'

पश्चिमी काव्यशास्त्र में 'काव्य का अधिकारी' अथवा 'सहृदय' जैसी गहन अवधारणा तो नहीं है, पर आदर्श-पाठक या 'ग्राहक' (आईडिग्रल रीडर) की अवधारणा पर पर्याप्त विचार हुआ है। भारतीय आचार्यों ने 'सहृदय' के जिन गुणों पर बल दिया है, उसका पूरा स्वरूप 'प्रतिभा' पर खड़ा है - अर्जन पर कम। इसके विपरीत, पश्चिमी चिंतकों ने 'आदर्श प्रेक्षक' अथवा 'आदर्श ग्राहक' में सतत ग्रहणशीलता, शिक्षा एवं प्रयत्न तीनों का योग महत्वपूर्ण माना है। वहाँ भी पाठक में भावयित्री प्रतिभा की स्वीकृति है, पर यह सब अभिजात वंशानुक्रम परम्परा से विरासत में प्राप्त संस्कार है, प्रतिभा का सहज उभार कम। पाठक के 'संस्कार' को सामाजिक संदर्भ प्रदान करते हुए 'विशिष्ट वर्ग' (Elite) का प्रतिनिधि माना गया जिसमें स्वभावतः काव्यास्वाद का संस्कार भी आ जाता है।

काव्य के अधिकारी संबंधी मान्यता में 'विशिष्ट वर्ग' की या अल्पसंख्यक की बात वहाँ बहुत समय से चली आ रही है। वहाँ माना जाता रहा है कि यह विशिष्ट वर्ग थोड़ा या अल्पसंख्यक होता है। इस चिंतन परम्परा का परिणाम यह हुआ कि आई.ए.रिचर्डस, टी.एस.एलियट तथा एफ.आर.लीविस जैसे प्रबुद्ध आधुनिक भी 'अल्पसंख्यक संस्कृति सिद्धांत' के प्रति एकदम नरम हैं। यह ठीक बात है कि हर समाज में सच्चे ग्राहक कम ही होते हैं। टी.एस.एलियट जब अल्पसंख्यक वर्ग को काव्य का अधिकारी कहते हैं तो उस वर्ग को पूरे यूरोप की महान परंपरा का वाहक, धारक, उद्धारक और उत्तराधिकारी मानते हैं। वे स्वयं जब बोलते हैं - चाहे रचनाकार के स्वर में बोलें या पाठक-आलोचक के स्वर में - पूरे यूरोप की तरह से,

पूरी ईसाई चिंतन परम्परा के प्रवक्ता की तरह बोल रहे होते हैं। अभिजात वर्ग ही काव्य-संस्कारों वाला है औद्योगिक समाज का मध्य वर्ग तो संस्कारहीन उपभोक्तावादी संस्कृति का अंग है। एलियट के विचार से लीविस कई अर्थों में सहमत हैं। लीविस के अनुसार 'जनतंत्र और शिक्षा के अनियंत्रित प्रचार-विकास से लाभ कम हानि बहुत हुई है।' उनका मानना है कि 'अल्पसंख्यक संस्कृति' में 'काव्य के ग्राहकों' की संख्या भी थोड़ी ही होती है।

काव्यानुभूति बनाम सौंदर्यानुभूति के चिंतन में पश्चिमी विचारकों ने काव्यशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र, मनोविश्लेषणशास्त्र आदि कई क्षेत्रों से विचार किया है। इस विचार के तहत वहाँ 'आदर्श पाठक' की चर्चा का विस्तार हुआ है। संवेदनात्मक क्षमता, ज्ञानात्मक संवेदना की बोध-शक्ति तथा चित्त की एकाग्रता के आधार पर वहाँ 'ग्राहक' की कोटियाँ निर्धारित की गई हैं। वहाँ इन कोटियों के निर्धारण का नतीजा यह हुआ है कि सौंदर्यानुभव (एस्थेटिक ऐक्सपीरिएंस) एवं सम्प्रेषणीयता (कम्युनिकेशन) दोनों ही निरीक्षक (ऑब्ज़र्वर) से सम्बद्ध हो गए हैं। 'निरीक्षक' का अर्थ है कला के संस्कारों और मनोवृत्तियों वाला वह व्यक्ति जो कलाकृति के प्रति अपनी तात्कालिक 'ऐन्द्रियक', 'सौंदर्यबोधात्मक' रुचियों (टेस्ट) का प्रस्तुतीकरण करे। वह कलाकृति के सौंदर्य को समझने-सराहने वाला गुण पहचानने वाला आशंसक (एप्रीशिएटर) या भोक्ता हो। उसमें शिक्षा-संस्कार, अभ्यास, परिवेश आदि के संयोग से विकास-परिष्कार-परिवर्तन हो। अनुकूल संस्कार और अनुकूल परिवेश दोनों का अनुपात 'निरीक्षक' में आवश्यक है। उसमें यह शक्ति भी हो कि वह 'रुचि', 'निर्णय', तथा 'तर्क' का पृथक्करण कर सके। रुचि का संबंध एन्द्रिय तुष्टि से है और तर्क का मूल्यांकनपरक विवेक से। 'समसामयिक गृहीता' का अर्थ भी ऐतिहासिक-चेतना से विमुखता नहीं है। समाजशास्त्री 'कलाकृति' में समाज-विकास के सांस्कृतिक पैटर्न खोजते हैं तो रेडियोलॉजिस्ट आदि चित्रकला में चित्र के रंग तथा रेखा रचना के तकनीकी-क्रम खोजते हैं। यहाँ 'गृहीता' में रुचि से ज्यादा महत्व अर्जित ज्ञान को मिला है। कारण यह है कि सभी कलाओं के लिए 'ऑडिएंस', 'स्पेक्टेटर' तथा 'एप्रीशिएटर' में 'कला-परख' पर बल ज्यादा है। सौंदर्यवेत्ताओं के अनुसार 'आशंसा' (appreciation)एक 'काव्यात्मक विश्वास' (पोयटिक बिलीफ) है। मनोविश्लेषणवादी फ्रायड कहते हैं कि आशंसक की अतृप्त यौन कामनाओं की तृप्ति ही कला की आशंसा है। कलाकार की तरह, आशंसक भी, अवचेतन यौन इच्छाओं की काल्पनिक तुष्टि, दिवास्वप्नों-फैंटेसियों के द्वारा करता है। कलाकार की तरह, 'ग्राहक' या पाठक भी न्यूराटिक ढंग से दमित इच्छाओं का उन्नयन या उदात्तीकरण करता है।

टाल्स्टाय मानते हैं कि आशंसा कलाकृति में कलाकार द्वारा गुम्फित संवेगों की साझेदारी है। ध्यान देने की बात है कि अरस्तू 'त्रासदी के विरेचन' में भाव-शुद्धि (purgation) मानते हैं। इसका अर्थ हुआ कि शिक्षा और विवेक-सम्पन्न आशंसक ही 'आलोचक' हो जाता है। आशंसक जितना अधिक संवेदनशील और तार्किक होगा वह उतना ही अभिरुचि और मूल्य के बीच फर्क कर सकेगा। अतः आलोचना 'अभिरुचियों का निर्वैयक्तिक विवेक' ही तो है। आशंसक कोरा भोक्ता नहीं होता, वह रचना की पुनर्रचना करने के कारण 'सृजनशील' होता है। कृतिकार और पाठक का गहरा रिश्ता सौंदर्यानुभव में फैला हुआ है। कलाकृति या 'मूल रचना' आशंसक द्वारा अपने मानस में मूल रचना की पुनर्रचना (अनुकृति नहीं) है। जाहिर है कि पाठक की ग्रहणशीलता एक प्रकार की 'सृजनशीलता' ही है। ज्याँ पाल सार्त्र ने कहा है कि रचना में पाठक विद्यमान होता है। रचना करते समय रचनाकार के मस्तिष्क में पाठक होता है। काण्ट भी मानते थे कि कलाकृति अपना अस्तित्व तभी प्राप्त करती है जब कोई उसे 'देखता' हो। रचना ही पाठक को नहीं बदलती - पाठक भी रचना को बदलता है, रचनाकार को बदलने के लिए विवश होता है। इसलिए सृजनशीलता और ग्रहणशीलता में द्वंद्वात्मक सह-संबंध रहता है। सच्चा रचनाकार एक 'सार्वभौम पाठक' के लिए लिखता है जिसे हम 'आदर्श पाठक' कहते हैं। जो रचना के मूलार्थ को समझ सकता है, वह 'विशिष्ट पाठक' है, आलोचक है। यह विशिष्ट पाठक (आलोचक) ही कलाकृति की वस्तुनिष्ठता-विशिष्टता और परम्परा में कलाकृति के स्थान का मूल्यांकनकर्ता है।

विलियम के.विमसाट ने इस 'आदर्श पाठक' को 'नाटकीय पाठक' कहा है क्योंकि वही काव्य का वास्तविक पाठक है और वह किसी अन्य के कंधे पर झुका हुआ पाठक है। यानी वह लोकमत को आदर देता है। इस नाटकीय पाठक को ही पूरी कविता का काव्यार्थ संबोधित होता है। स्वयं एफ.आर. लीविस भारी वाद-विवाद के बाद इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आदर्श पाठक ही आदर्श आलोचक होता है। आदर्श पाठक के तीन गुण हैं - 'जानना', 'समझना' और 'मूल्यांकन' करना। काव्य-समझ का सच्चा परिचय काव्यास्वाद का या काव्यानुभूति, काव्यानुभव का सच्चा मूल्यांकन ही है।

9.7 काव्य का अधिकारी और आलोचक

'काव्य के अधिकारी' के संदर्भ में आलोचक की चर्चा अपेक्षित है। आलोचक का कार्य है - रचना अथवा कलाकृति की व्याख्या और विश्लेषण। वह साहित्य के वैशिष्ट्य का उद्‌घाटन करके उसके मूल्यांकन में प्रवृत्त होता है। वह भी काव्य-सौंदर्य का भावक होता है लेकिन सामान्य भावक नहीं। सामान्य भावक रचना का आस्वादन करता है लेकिन आलोचक आस्वादन के साथ-साथ मूल्यांकन भी करता है। मूल्यांकन के लिए रचना के वैशिष्ट्य का उद्‌घाटन वह तभी कर सकता है जब वह सामान्य से ऊँचे दर्जे का सहृदय पाठक या प्रेक्षक हो, सुपठित हो, शास्त्र मर्मज्ञ हो, निपुण हो, रसज्ञ हो। 'अभिज्ञान शकुंतलम' में कालिदास जब कहते हैं - आपरितोषाद विदुषां न साधुमन्ये प्रयोग विज्ञानम्' तो विद्वानों का परितोष प्रदान करने में ही अपने प्रयोग विज्ञान की - नाटक की सफलता मानते। आ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद' में लिखा है - 'कालिदास आदि जब परिषद की निपुणता की बात करते हैं तो निश्चय कुछ चुने हुए सदस्यों की बात करते हैं' वास्तव में ये चुने हुए 'सहृदय' ही कला मर्मज्ञ, कला धारखी, कला निष्णात, कला पारंगत, विद्या वारिधि जैसे संबोधन पाते थे। यह उच्च कोटि का सहृदय ही 'आलोचक' कहलाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की उच्च सहृदयता या रसज्ञता ही उन्हें उच्च कोटि का आलोचक सिद्ध करती है। अभिनवगुप्त को भारतीय परंपरा में सहृदय विचार-दर्शन का प्रवर्तक आचार्य माना गया है। नाट्यालोचन, काव्यालोचन और दर्शन के वे सहृदय आलोचक आचार्य हैं, उनकी सहृदयता इतनी शिखर तक पहुँची सहृदयता है कि वे साहित्यशास्त्र विषयक दो ग्रंथों की रचना करते हैं जिन्हें मौलिक रचना से भी ज्यादा महत्वपूर्ण माना जाता है।

9.8 निष्कर्ष

अपने मूल मंतव्य हम इस प्रकार रख सकते हैं -

1. भारतीय काव्यशास्त्र में 'सहृदय' एक बहुत व्यापक अवधारणा है। भारतीय काव्यशास्त्र में सहृदय कोई बाहरी व्यक्ति न होकर काव्य का अंतरंग, आत्मीय, अभिन्न और अपरिहार्य अंग रहा है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा सौंदर्यशास्त्र के 'आदर्श ग्राहक' से उसकी ऊपरी समानता दिखाई देने पर भी गहराई में स्पष्ट भिन्नता है।
2. काव्यानुभूति संबंधी समस्त विवेचन का प्रतिमान है - सहृदय अथवा आदर्श पाठक।
3. काव्यानुभूति का स्वरूप-निर्णय काव्यार्थविद् या प्रमाता पर निर्भर है। इसीलिए देश-विदेश के विचारकों ने एक आदर्श-पाठक की परिकल्पना एक प्रतिमान के रूप में की है। भारतीय काव्यशास्त्र में जिसे प्रेक्षक, दर्शक, भावक, सामाजिक, सुमनस, रसज्ञ, सहृदय, प्रमाता आदि की संज्ञा प्रदान की गई है, उसे ही पश्चिमी चिंतकों ने 'आइडियल रीडर', 'एप्रीशिएटर', 'आब्जर्वर', 'स्पेक्टेटर' (आदर्श पाठक, आदर्श ग्राहक, नाटकीय पाठक, विशिष्ट प्रेक्षक) की संज्ञा प्रदान की है।
4. यह आदर्श 'पाठक' और 'सहृदय' काव्य का बाहरी अंग न होकर उसका अभिन्न, अपरिहार्य - भीतरी अंग है।
5. कवि-कृति और पाठक के बीच संवाद-सेतु है साधारणीकरण। साधारणीकरण पाठक का कवि-अनुभूति से होता है।
6. कलाकार की मूल रचना को अपने हृदय में ग्रहण करके पाठक उसकी पुनर्रचना करता है।
7. आदर्श पाठक ही आदर्श आलोचक होता है जिसमें परम्परा, संस्कृति, इतिहास, धर्म, मिथक अपना विशिष्ट अर्थ संस्कार रचते हैं।

9.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. भारतीय काव्यशास्त्र में 'सहृदय' की अवधारणा पर विचार कीजिए।
2. पश्चिमी काव्यशास्त्र में 'सहृदय' संबंधी चिंतन पर विचार कीजिए।
3. काव्य के अधिकारी से तात्पर्य स्पष्ट करते हुए उसके महत्व पर प्रकाश डालिए।

इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, **रस मीमांसा**, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी.
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, **चिन्तामणि, भाग-1**, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग.
3. डॉ. प्रेमस्वरूप गुप्त, **रस गंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन**, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़.
4. डॉ. नगेन्द्र, **रस सिद्धांत**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.
5. डॉ. नगेन्द्र, **रीतिकाव्य की भूमिका**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.
6. डॉ. निर्मला जैन, **रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र**, वाणी प्रकाशन, दिल्ली.
7. लक्ष्मीकांत वर्मा, **नई कविता के प्रतिमान**, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली.
8. डॉ. नामवर सिंह, **कविता के नए प्रतिमान**, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.
9. सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', **आधुनिक साहित्य एक परिदृश्य**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.
10. सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' (संपा.), **दूसरा सप्तक**, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली.
11. आ. विश्वेश्वर (अनु.), **हिंदी अभिनवभारती**, हिंदी अनुसंधान परिषद, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली.
12. गणेश त्र्यंबक देशपाण्डे, **भारतीय साहित्यशास्त्र**, पॉपुलर बुक डिपो, बंबई.
13. बाबू गुलाबराय, **सिद्धांत और अध्ययन**, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली.
14. प्रो. रमेश कुंतल मेघ, **अथातो सौंदर्य जिज्ञासा**, मेकमिलन कंपनी लिमिटेड इंडिया, नई दिल्ली.
15. पं.विद्यानिवास मिश्र, **सहृदय**, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली.